"अमृतवाग्भवाचार्य और श्रीसिद्धमहारहस्यम्"

AMRITVAGBHAVACHARYA AND SHRI SIDDMAHARAHSYA

जम्मू विश्वविद्यालय की एम. फिल.
उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबन्ध

निर्देशक :
डॉ० जगीर सिंह
प्राध्यापक स्नातकोत्तर
संस्कृत–विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू ।।

अनुसन्धात्री :
गीता रानी
एम. ए

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
2004

IInd Copy.

Forwarded

Head of P.G. Deptt. of Sanskrit
University of Jammu.

"अमृतवाग्भवाचार्य और श्रीसिद्धमहारहस्यम्"

AMRITVAGBHAVACHARYA AND SHRI SIDDHMAHARAHSYAM

जम्मू विश्वविद्यालय की एम. फिल्.
उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध

निर्देशक :
डॉ0 जगीर सिंह
प्राध्यापक स्नातकोत्तर
संस्कृत-विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू ।

अनुसन्धात्री :
गीता रानी
एम. ए

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
2004

CERTIFICATE

This is to certify that Mrs. Geeta Rani a candidate for the M.Phill Degree worked under my guidance and supervision for her thesis entitled "**Amritvagbhavacharya and Shri Siddhmaharahsyam**"

This is further to state :-

1. That the thesis embodies the work of the candidate herself;
2. That the candidate worked under me for the period required under statutes;
3. That she has put in required attendance, and seminars in this department during the period; and
4. That the conduct of the candidate remained satisfactory during the period of her research work.

Dated : June 7, 2004

(Dr. Jagir Singh)
Reder
P.G. Department of Sanskrit
University of Jammu, Jammu.

विषयानुक्रमणिका

क्रमाङ्का	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	संकेत सूची	(अ से इ)
2.	प्राक्कथन	(1 - 3)
3.	प्रथम अध्याय :- क) अमृतवाग्भवाचार्य का जीवन काल एवं व्यक्तित्व	(4 - 31)
	जीवनवृत और समय,वंश परम्परा, शिक्षा और आचार्य पदवीं, गुरू, अजीविका निर्वाह, विवाह, सन्यास एवं परिव्राजक जीवन, राजाश्रय, संस्था निर्माण, सिद्ध पुरूष, सर्वशास्त्र मर्मज्ञ, कुलीन एवं अद्वैत ज्ञानीं, अथक परिश्रमी एवं संघर्षशील, कुशाग्र-प्रतिभा और समृतियुक्त, त्रिकालज्ञ, ब्रह्मचारी, राष्ट्रवादी, जीवनमुक्त शिवत्व प्राप्ति ।	
	ख) आचार्य का देशभ्रमण एवं देशिक विवरण	
द्वितीय अध्याय :-	श्री अमृतवाग्भवाचार्य की कृतियाँ	(32 - 54)
	विषय के आधार पर आचार्य द्वारा विरचित कृतियों का विभाजन	
	क) दार्शनिक ग्रन्थ	
	ख) स्तोत्र ग्रन्थ	

ग) धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ

घ) राष्ट्रवादीय ग्रन्थ

ङ) काव्यपरक ग्रन्थ

च) विविध रचनायें

तृतीय अध्याय :- श्रीसिद्धमहारहस्यम् की सामग्री का अवलोकन (55 - 91)

परमसत्ता (परमशिव), शाक महिमा, शिव की शक्तियां

(इच्छा, चित, आनन्द, ज्ञान और क्रिया शक्ति)

छत्तीस तत्त्व ।

चतुर्थ अध्याय :- सैद्ध योग (92 - 107)

उपसंहार :- श्रीसिद्धमहारहस्यम् और वर्तमान युग में उसकी प्रासंगिकता । (108 -115)

ग्रन्थ - सूची (116 -119)

संकेत सूची

1.	अ.	–	अध्याय
2.	अथर्व.	–	अथर्ववेद
3.	अनु. प्र. पं.	–	अनुत्तरप्रकाश पञ्चाशिका
4.	अष्टा.	–	अष्टाध्यायी
5.	आ. वि.	–	आत्मविलास
6.	आह्.	–	आह्निक
7.	ई.प्र.का.	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञांकारिका
8.	ई. प्र. का. वृ	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका वृत्ति
9.	ई. प्र. वि.	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी
10.	ई. प्र. वि. वि.	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी
11.	का.	–	कारिका
12.	तं. आ.	–	तन्त्रालोक
13.	तं. आ. टी.	–	तन्त्रालोक टीका
14.	तं. आ. वि.	–	तन्त्रालोक विवेक
15.	तं. आ. टी.	–	तन्त्रसार
16.	दे. दर्श.	–	देशिकदर्शनम्
17.	ना. ना.	–	नागानन्द नाटक
18.	पृ.	–	पृष्ट
19.	प्र. भि. हृ.	–	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

20.	परा. प्रा.	–	परा प्रावेशिका
21.	प. शि. स्तो.	–	परमशिवस्तोत्र
22.	प. सा.	–	परमार्थसार
23.	बो. पं.	–	बोधपञ्चदशिका
24.	भ. गी.	–	भगवद् गीता
25.	भा.	–	भाग
26.	भास्क.	–	भास्करी
27.	मृ. तं.	–	मृत्यञ्जयतन्त्र
28.	मा. वि. तं.	–	मालिनीविजयतन्त्र
29.	मा. वि.	–	मालिनीविजय
30.	महा. श. स्त	–	महानुभवशक्तिस्तवः
31.	महा. म.	–	महार्थमञ्जरी
32.	यो. प्र.	–	योगप्रदीपिका
33.	यो. भा.	–	योगभाष्य
34.	रघु.	–	रघुवंश
35.	रा. त.	–	राजतरङ्गिनी
36.	वि. भै.	–	विज्ञानभैरव
37.	वि. सं.	–	विक्रम सम्वत्
38.	शि. दृ.	–	शिव दृष्टि
39.	श्लो.	–	श्लोक
40.	शि. सू.	–	शिवसूत्र

41.	शि. सू. वि	–	शिवसूत्र विमर्शिनी
42.	शि. स्तो. टी.	–	शिवस्तोत्रावली टीका
43.	षड. त्रिं. त. सं.	–	षडत्रिंशत्तत्सन्दोह
44.	स्. का.	–	स्पन्दकारिका
45.	सञ् . दर्श.	–	सञ्जीवनी दर्शनम्
46.	सि. रह.	–	सिद्धमहारहस्यम्
47.	सौ. ल.	–	सौन्दर्यलहरी
48.	स्वच्छ. तं.	–	स्वच्छन्दतन्त्र
49.	सां. द.	–	सांख्य दर्शनम्

प्राक्कथन

मनुष्य पर उसके संस्कारों का प्रभाव आवश्य दिखाई पड़ता है अर्थात् बचपन में उसे जिस प्रकार के संस्कार सिखाए जाते हैं, बड़े होने पर उनकी झलक मनुष्य में आवश्य दिखाई पड़ती है । मेरा जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ है । अतः धार्मिक अनुष्ठान, यज्ञ, पाठ इत्यादि हमारे घर में होते हीं रहते हैं साथ ही हिन्दु धर्म के अधिकांश धार्मिक ग्रन्थ, पुराण, उपनिषद् इत्यादि संस्कृत में हैं मैं इन्हें पढ़कर इनके प्रति ज्ञान प्राप्त करना चाहती थीं । इसलिए संस्कृत के प्रति मेरी रूचि बढ़ती गई एवं मैने स्नातकोत्तर में अन्य विषयों के मध्य संस्कृत को चुना । स्नातकोत्तर में मुझे व्याकरण, साहित्य, शिलालेख तथा अन्य विषयों के साथ-साथ दर्शन पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । दर्शन में मेरी रूचि अधिक होने के कारण मैने दर्शन शास्त्र में हीं एम.फिल् करने का विचार किया । यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे दर्शन में डॉ0 जगीर सिंह जैसे निर्देशक का सान्निध्य प्राप्त हुआ, जो दर्शन के मर्मज्ञ तो हैं ही साथ ही छात्रों को हर सम्भव सहयोग देने में कभी पीछे नहीं हटते । उन्होंने मेरी रूचि को ध्यान में रखते हुए मुझे ''अमृतवाग्भवाचार्य और श्रीसिद्धमहारहस्यम् '' इस विषय पर शोध करने का सुझाव दिया ।

चूँकि श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य दर्शन के एक प्रकाण्ड आधुनिक विद्वान थे तथा उनकी कृतियों में दर्शन से सम्बन्धित बहुत कुछ सीखने को मिलता है । इसलिए मैंने डा0 जगीर सिंह जी के सुझाव को स्वीकार करना हीं अपने लिए हितकर समझा । मेरा यह शोध कार्य उन्हीं की कृपा का फल है, जो उन्होंने अपनी अमूल्य सहायता के रूप में मुझ पर की । अतः मैं अपने गुरू के प्रति मौखिक तथा लिखित रूप में अभार प्रकट करतीं हूँ । उन्होंने मुझे जो ज्ञान रूपी खजाना दिया है, उसके लिए मैं सदा उनकी ऋणी रहूँगी ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है । प्रथम अध्याय में श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य के जीवन, काल एवं व्यक्तित्व पर तथा आचार्य के देशभ्रमण एवं देशिक विवरण पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है ।

द्वितीय अध्याय में आचार्य की कृतियों का वर्णन किया गया है तथा उनके वर्ण्य विषय के आधार पर उनका विभाजन प्रस्तुत किया गया है ।

तृतीय अध्याय में श्रीसिद्धमहारहस्यम् की सामग्री का उल्लेख का अवलोकन प्रस्तुत किया गया है, जिसमें परमसत्ता (परमशिव) , शाक महिमा, शिव की शक्तियाँ (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति) तथा छत्तीस तत्त्वों का सामान्य परिचय दिया गया है ।

चतुर्थ अध्याय में सैद्धयोग पर प्रकाश डाला गया है, जो शैव परम्परा के अनुसार आचार्य को प्राप्त हुआ था ।

उपसंहार में श्रीसिद्धमहारहस्य की वर्तमान युग में प्रासंगिता का वर्णन किया गया है ।

इस शोध प्रबन्ध के कार्य को पूर्ण करने में डॉ0 जगीर सिंह ने जो मुझे पूर्ण सहयोग दिया है, उसके बदले उनके प्रति केवल आभार प्रकट करने से ही मैं ऋण से मुक्त नहीं हो सकती । फिर भी उसके लिये कृतज्ञता प्रकट करना अपना परम कर्त्तव्य समझती हूँ ।

इस शोध प्रबन्ध के कार्य में संस्कृत विभागाध्यक्षा डॉ0 रमणीका जलाली, डा0 केदारनाथ, डॉ0 सुषमा, डॉ0 शारदा गुप्ता एवं डा0 रामबहादुर ने जो मुझे सहयोग दिया है, उसके लिए भी मैं उनके प्रति आभार प्रकट करती हूँ ।

मैं विशेष रूप से आभारी हूँ देवी सरस्वती की, जिनकी कृपा से मेरा यह शोध प्रबन्ध बिना किसी रूकावट के पूर्ण हुआ । मैं पुनः आभारी हूँ अपनी माता श्रीमति निर्मला शर्मा एवं पिता श्री भगतराम शर्मा जी की जो सदा मुझे पढ़ने के लिए प्रेरित करते रहे तथा जिन्होंने मेरी पढ़ाई के मध्य किसी भी तरह की रूकावट नहीं आने दी ।

मैं मुख्यरूप से अति आभारी हूँ अपनी धर्म–माता श्रीमति कमला शर्मा जी की एवं अपने धर्म–पिता श्री पुन्नु राम शर्मा जी की (अवकाश प्राप्त प्राध्यापक) जिन्होंने सदा मेरी सुविधाओं का ध्यान रखते हुए इस शोध पथ पर अग्रसर होने की मुझे सदा प्रेरणा प्रदान की है ।

मैं अपने पति श्री विपन शर्मा (विजय) जी की भी बहुत आभारी हूँ, साथ ही अपनी ननद, देवर एवं अपने भाईयों की भी बहुत आभारी हूँ जो मेरे शोध कार्य में मेरी अत्याधिक सहायता करते रहे हैं ।

मैं विभाग के पुस्तकालय के अधिकारी श्री विजय बडियाल और जतिन की भी धन्यवादी हूँ, जो समय समय पर वांछित पुस्तकें उपलब्ध करवाते रहे हैं । इसके अतिरिक्त अपने सहपाठी शोधछात्रों की भी आभारी हूँ जिन्होंने सामग्री को ढूँढने में मेरी सहायता की ।

मैं विनम्रभाव से प्रस्तुत लघुशोध प्रबन्ध को जगत् कल्याणार्थ भगवती सरस्वती के चरणारविन्दों में समर्पित करती हूँ ।

विनीता

जून 7. – 2004.

गीता रानी

(गीता रानी)

अध्याय - प्रथम

क) अमृतवाग्भवाचार्य का जीवनकाल एवं व्यक्तित्व

ख) अमृतवाग्भवाचार्य का देशभ्रमण एवं देशिक विवरण

भारतवर्ष आदिकाल से ही महानविभूतियों की जन्मस्थली रहा है । भारत में अनेक ऐसे ऋषि, मुनि तथा महापुरूष पैदा हुए हैं जिन्होंने अपने-अपने कार्यो से साधारण जनता को लाभांकित किया है । संसार में उसी प्राणी का जीवन सफल माना जाता है जिसका आचार और व्यवहार, चाहे वह कोई भी कार्य करे, परोपकार की भावना से युक्त हो ''परोपकाराय सतां विभूत्यः'' । आचार्य अमृतवाग्भव भी ऐसी ही एक दिव्य आत्मा थे, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन लोककल्याण हेतु समर्पित कर दिया । प्रकृति का यह नियम रहा है कि जब संसार में अत्याचार बढ़ जाता है, तो साधुजनों के कल्याण के लिए अथवा लोगों की भलाई के लिए महापुरूष अवतरित होते ही रहते हैं । भगवान श्री कृष्ण ने गीता में भी कहा है कि जब-जब धर्म की हानि होती है एवं अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब में साधुजनों एवं धर्म की रक्षा के लिये तथा दुष्टजनों एवं अधर्म के नाश के लिए अवतरित होता हूँ ।[1]

---

1) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभ्वामि युगे युगे ।।

आचार्य अमृतवाग्भव भी एक ऐसी हीं दिव्य आत्मा थे जो भगवान की प्रेरणा से सर्वगुण सम्पन्न होकर इस मृत्युलोक पर अपनी प्रतिभा एवं दिव्य ज्ञान के माध्यम से संसार का परोपकार करने के लिए पैदा हुए थे ।

जीवनवृत और समय :-

आचार्य के जीवन, समय और स्थान आदि के विषय में परिपूर्ण जानकारी इनकी कृतियों से उपलब्ध नहीं होती है, तथापि उनसे अंशतः परिचय उपलब्ध हो ही जाता है ।

वंश परम्परा :-

आचार्य की स्वरचित कृतियों के अनुसार इनकी जन्म-धरा भारत की सुप्रसिद्ध एवं पवित्रम् नदियों गंगा-यमुना का मध्यभाग है । इनके अपने ही कथनानुसार वह एक विद्वान, अति कुलीन और उच्च ब्राह्मण सत्कुल में उत्पन्न हुये थे, जो विप्रों में अग्रगण्य था ।[1]

अमृतवाग्भव जी का जन्म 1903 ई0 पू0 में इनके ही अन्तरंग शिष्य डॉ0 बलजिन्नाथ पण्डित के कथन के अनुसार हिन्दुओं के परम पावन तीर्थस्थल तीर्थराज प्रयाग में हुआ था ।

---

1) अन्तर्वेदिसमुद्भूतः कोऽपि विद्वदपश्चिम : ।
पङ्क्तिपावनविप्राणामुत्पन्नों विदुषां कुले ।। (आ.वि. 7/2)

ख) ''विद्वद्ब्राहमाणसत्कुलोद्भववपुर्विद्वद्वरिष्ठ स्वयं'' (वही 7/9)

इनके पिता का नाम श्री कृष्ण शास्त्री वर्कल और इनकी माता का नाम राधा था ।[1] ईश्वर को इनका मातृप्रेम प्रिय नहीं था, इसलिए तीन बर्ष की आयु में ही इन्हें उनका वियोग झेलना पड़ा । शिशु के पालन पोषण की कठिनाई को ध्यान में रखते हुए इनके पिता जी ने एक वर्ष बाद ही दूसरा विवाह कर लिया । आचार्य की विमाता से उत्पन्न इनके भाई का नाम रामचन्द्रवर्कले था ।[2] अमृतवाग्भव का बचपन का नाम "वैद्यनाथ वर्कले" था । हिमाचल प्रदेश और जम्मू-काश्मीर के लोग इन्हे 'आनन्दस्वरूप' के नाम से भी जानते थे । आचार्य के वंश की अल्ल वरकल अर्थात् वर्कले थी । यह अपने पिता का बहुत सम्मान करते थे एवं उनके आज्ञाकारी थे । इनके पिता बड़े महान, तपस्वी और सर्वशास्त्र मर्मज्ञ थे । आचार्य के पिता महाराष्ट्री ब्राह्मण थे, जो विदर्भ के रहने वाले थे । इनका एक पूर्वज बनारस में रहता था । अतः यह भी वहीं जाकर रहने लगे । वह संगीतादि कलाओं के भी विशेषज्ञ थे । इस प्रकार जबकि इनको माता के प्रेम से वञ्चित रहना पड़ा, फिर भी महान् एवं विद्वान पिता के सान्निध्य से इन पर ज्ञान का अधिक प्रभाव पड़ा ।

---

1) सामरस्य-समुल्लासः श्रीराधाकृष्णयोः पराः ।
अध्यात्माऽमृतासारि-वाग्भवो जयताच्चिरम् ।। (प. शि. स्तो. श्लोक 3)

2) पञ्चकृत्यमिषान्नित्यं स्फारयन् स्वांवशं कलाम् ।
शिवो वरकलो वैद्यनाथौ विजमतां सदा ।। (वही श्लोक 4)

शिक्षा एवं आचार्य पदवी :-

बनारस के ''क्वीनजकालेज'' में इनकी शिक्षा-दीक्षा समाप्त हुई । जो आजकल संस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है । 12 वर्ष की आयु में ही इनके पिता की छत्र-छाया भी इनसे छिन गई और वह शिवधाम को प्राप्त हो गए ।

आचार्य के पिता के स्वर्गवास के पश्चात् इनके परिवार की पूरी जिम्मेवारी भी इनके कंधों पर आन पड़ी । इनके घर में अजीविका का भार वहन करने वाला दूसरा कोई नहीं था । यह बहुत परिश्रमी, स्वावलम्बी एवं स्वाभिमानी थे । जिस भी कार्य को करने की सोचते थे, उसे करके ही विश्राम लेते थे । अपने इन्हीं नैसर्गिक गुणो के बल पर इन्होंने अपने चाचा ''मथुरेश्वर वर्कले'' से संस्कृत का अध्ययन किया एवं तीव्र बुद्धि के प्रभाव से जल्दी ही उसमें निष्पात हो गये । इनको छात्रवृति भी पाँच रूपये मासिक मिलती थी और उसी के माध्यम से गृहकार्य का सुचारू रूप से प्रबन्ध कर लेते थे । इन्होंने जीवन-यात्रा के लिए किसी अन्य व्यक्ति के आगे हाथ नहीं फैलाये । इसलिए अपने बलपौरूष से अपार्जित धन से ही निर्वाह करते थे ।

आचार्य ने धर्मशास्त्र तथा व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन ही नहीं किया था, अपितु आचार्य पदवी को भी प्राप्त किया था ।

गुरू :- आचार्य अमृतवाग्भव जी को श्री विद्या की मन्त्र दीक्षा बचपन में उपनयन संस्कार के ही समय अपने पिता जी से प्राप्त हुई थी । अपने पिता से ही इन्हे शैव-दर्शन के सिद्धांतों का सामान्य ज्ञान भी प्राप्त हो गया था । उच्च शिक्षा के लिए जब वे 'कवीनज कालेज' में व्याकरण शास्त्री की कक्षाओं में अध्ययन करते थे, तो कॉलेज के तात्कालिक प्रिंसिपल महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जी की प्रेरणा से इन्होंने शैव-दर्शन के कुछ ग्रन्थों का अध्ययन किया । इनके अतिरिक्त महान् शैवाचार्य अभिनवगुप्त के परमार्थसार, भोज के तत्त्वप्रकाश और महेश्वरानन्द के महार्थमञ्जरी परिमल को भी पढ़ा अपने पिता द्वारा पदत्त श्री विद्यामन्त्र के अनुष्ठान के प्रभाववश भगवती की प्रसन्नता से ही महामुनि भगवान दुर्वासा ने अपार अनुग्रह करते हुए साक्षात् दर्शन दिए । इन्होंने अपने परम सद्‌गुरू दुर्वासा के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुये कहा है कि उनकी कृपा दृष्टि से ही इनको शिवभाव की प्राप्ति एवं भवताप की निवृत्ति हुई । इसलिए यह सदा तन्मयभाव में रहते हुए उनकी अनुकम्पा के भाजन बने रहते थे ।[1] आचार्य महोदय ने इनको करूणा के समुद्र लोक द्वारा पूजित, अत्रिमुनीश्वर के पुत्र और कोपभट्टारक संज्ञक गुरू के रूप में स्मरण किया है ।[2]

---

1) शिवाप्तिकारणं तापवारणं लालित हृदि ।
द्वयं गुरोश्चरणयोरद्वयं स्फुरतान्मम ।। (प. शि. स्तो. श्लो - 1)

2) वन्दे ऽत्रिनन्दनं विश्ववन्दितं करूणार्णवम् ।
कोपभट्टारकं पूर्णयोगदीक्षाप्रदं गुरूम् ।। (वही, श्ला. - 2)

इन्होंने इन्हे शाम्भवयोग की पूरी दीक्षा भी प्रदान की ।

आचार्य महोदय ने अपने गुरू द्वारा प्राप्त इस अनुभव का संसार कल्याण के लिए और परमशिव के सन्तोष के लिए ''परमशिवस्तोत्र'' के रूप में प्रकटाव किया । इन्होंने इस स्तोत्र के अतिरिक्त बहुत सी अन्य रचनायें स्तुतिपरक, धर्मशास्त्र सम्बन्धी, राजनीतिपरक, दर्शनशास्त्र विषयक प्रशस्तियां और भक्तिपरक आदि के रूप में लिखीं ।

आजीविका निर्वाह :- आचार्य अमृतवाग्भव जी का यद्यपि आजीविका निर्वाह का कोई निश्चित स्त्रोत नहीं था, तथापि यह कभी-कभी पुस्तकाल्यादि में सम्पादक का कार्य करते थे । इससे एक तो इनको विविध शास्त्रों के अध्ययन में सहायता मिलती थी, दूसरे जो थोड़े बहुत सम्पादन के लिये रूपये मिलते थे - उनसे यह घर का निर्वाह कर लेते थे । अनुसंधान के क्षेत्र में इनका मार्गदर्शन महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज ने किया । वही इनके प्रेरणा के स्रोत भी थे । अनुसंधान के क्षेत्र में इनको पहले बारह रूपये, फिर पन्द्रह रूपये और तत्पश्चात् बीस रूपये मासिक मिलते रहे ।

विवाह, सन्यास एवं परिव्राजक जीवन :- आचार्य का विवाह एक सुन्दर कन्या से हुआ, जो सुन्दर होने के साथ-साथ बहुत धनी भी थी । लेकिन जैसा कि महापुरूषों का कथन है कि मित्रता एवं विवाह समान कुल वालों में ही सफल होते हैं । इसके विपरीत होने पर प्रायः दुःख एवं असफलता

ही झेलनी पड़ती है ।[1] आचार्य जी के धनी ससुराल वालों ने इनकी आर्थिक हालत को देखकर इनकी खिल्ली उड़ाई एवं अपनी कन्या को इनके यहां न भेजना ही उचित समझा । इस घटना से आचार्य जी को बहुत ठेस पंहुची तथा उनका सांसारिक मोह उत्कट वैराग्य में परिवर्तित हो गया और वह राम की भक्ति में लीन हो गये उसके पश्चात् आचार्य ने घर का त्याग कर सन्यास ले लिया । अतः इनका विवाह औपचारिक परम्परमात्र होने से यह आजीवन ब्रह्मचारी ही रहे । आचार्य अपने वैवाहिक जीवन के असफल होने के विषय में कहा करते थे कि इन्होंने श्रीविद्या की उपासना से भगवती का साक्षात्कार किया था और कोई भी कार्य करने से पहले उनका ध्यान करके दैविक प्रेरणा ले लेते थे,परन्तु विवाह के समय इन्होंने भगवती का स्मरण न करने की भूल की थीं । अतः इनका वैवाहिक जीवन सफल नहीं हो सका ।

आचार्य ने परिव्राजकजीवन में अपनी शिक्षाओं के प्रचार प्रसार के लिये हरियाणा, हिमाचल, पंजाब, उत्तरप्रदेश, जम्मू-काश्मीर आदि प्रदेशों में भ्रमण किया । इन्होंने अपने योगबल से विभिन्न तीर्थो के दर्शनकाल में तत्सम्बन्धी देवताओं के साक्षात् दर्शन भी किये । इन्हीं भ्रमणों के मध्य में काश्मीर प्रदेश में वारामूला नगर में भगवती शैलपुत्री के मन्दिर मे इन्हें जो दर्शन प्राप्त हुआ, इनके अनुसार वह स्वयं एक विश्वरूप जैसा था । इन्होंने रस दर्शन को आत्म साक्षातकार की अनुभूति कहा है

---

1) अन्योन्यदर्शनकृतः समानरूपनुरागकुलवयसाम् ।
केषाञ्चिदेव मन्ये समागमो भवति पुण्यवताम् ।। (ना. ना. 2/1)

अपने भ्रमण विषयक अनुभव के विषय में वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि इन्हें काश्मीर देखने की बड़ी उत्कण्ठा थी । इसलिए यह कुछ देर के लिये आत्मानन्द रस की अनुभूति करते हुए वहॉ रहे ।[1] काश्मीर में रहते हुए इन्होंने वहॉ के तीर्थस्थलों एवं मन्दिरों का भ्रमण भी किया । काश्मीर के तीर्थस्थलों एवं मन्दिरों के महात्मय का वर्णन करते हुये इन्होंने कहा है कि वहॉ पर महागणेश और भगवती ''बींड़ा'' का मन्दिर भी है, जो भक्तों पर कृपा करने के लिए वहॉ प्रकट हुई है ।[2] वहॉ पर हीं कपालमोचन तीर्थ के दर्शनोपरान्त उसके थोड़ी दूर स्थित ''हवाल'' नामक ग्राम में सुन्दर स्थल और कुल्या के सौन्दर्य–वर्धन दृश्य से प्रभावित होकर यह कुछ देर वहां रहे ।[3] इनका कहना है कि उस गांव में ब्राह्मण लोग रहते थे , जो उस कुल में स्नान–पानादि समस्त क्रियाएॅ करते थे । आचार्य ने यहॉ पर कण्ठभट्ट नामक ब्राह्मण की प्रेरणा से द्रवित होकर उमापति महादेव की प्रसन्नता और संसार की भलाई के लिये ''आत्मविलास'' नामक अपनी प्रसिद्ध रचना लिखी ।[4]

---

1) प्रसडगतः समायातः काश्मीरालोकनोत्सुकः ।
उवास कञ्चित समयं स्वानन्दसनिथरः ।। (आ. वि – 7/4)

2) महागणेशो यत्राऽऽस्ते बीड़ा भगवती च सा ।
प्रकटीभूय भक्तानामनुग्रहचिकीर्षया ।। (वही – 7/6)

3) ग्रामे हवाल इत्याख्ये शुभे काश्मीरमण्डले ।
कपालमोचनातीर्थादुदीच्यां सार्धयोजने ।। (वही – 7/2)

4) तत्रत्य – 'कण्ठभट्टा' – रव्यब्राह्मणप्रार्थनादुतः ।
ग्रन्थमात्मविलासारव्यं जग्रन्थ सुमनोरमम् ।। (आ. वि. 7/7)

राजाश्रय :- बहुत से राजाओं ने आचार्य के ज्ञान और प्रतिभा की परिपक्वता से प्रभावित होकर इन्हें सम्मान दिया, इनको सहारा देने की प्रार्थना की और इनका शिष्यत्व भी स्वीकार किया । अधिकतर हिमाचल के राजाओं से इनका सम्पर्क हुआ और राजाश्रय भी मिलता रहा । आचार्य जनता की सेवा करने के लिए गॉव-गॉव घूमते रहे तथा अपने शिष्यों के घरों में ठहरते रहे । लेकिन भरतपुर के राजा का उनके प्रति विशेष आदर और भक्तिभाव था । अतः आचार्य प्रायः उनके यहां जाते रहते थें । आचार्य केवल साधारणजनों में ही अपनी शिक्षा का प्रचार-प्रसार नहीं करते रहे, अपितु विद्वद्संगोष्ठियों में भी भाग लेकर शास्त्र-चर्चा करते रहे । यहॉ कहीं भी संगोष्ठी होती आचार्य महोदय उसमें अवश्य भाग लेते थे । इसी उपलक्ष्य में यह बम्बई और कलकत्ता आदि नगरों में भी गये ।

संस्था निर्माण :- आचार्य अमृतवाग्भव न केवल मौखिक उपदेश ही दिया करते थे, अपितु इन्होंने अपने उपदेशों को लिपिबद्ध भी किया । इन्होंने कई संस्थाओं का निर्माण भी किया, जो इनके उपदेशों की निरन्तरता को बनाये रखे । आचार्य ने सोलन में ''स्वाध्यायसदन'' नामक संस्था की स्थापना की थीं और 1960 ई0 पू0 में 'श्रीस्वाध्याय' नामक पत्रिका भी बर्षों तक प्रकाशित करते रहे ।

इसी मध्य किसी कारणवश सदन का काम रूक गया और इसलिये आचार्य ने भरतपुर में अपना पुस्तक भण्डार स्थानान्तरित कर दिया । 1980 से 1982 तक यह बीमार रहे और दिल्ली में ही निरन्तर रहते रहे । इन्होंने एक शोध संस्थान ''श्रीपीठंसैद्धदर्शन'' के नाम से अपने शिवधाम गमन के कुछ बर्ष पहले ही स्थापित करवाया था । उसी संस्थान ने जम्मू में आचार्य के कई ग्रन्थों का प्रकाशन किया । दिल्ली में इन्होंने जीवन के अन्तिम वर्ष में ''विद्वद्वरकले श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान की स्थापना की थीं तथा प्रकाशन कार्य हेतु श्रविद्या प्रकाशन'' नामक एक प्रसिद्ध संस्था का भी निमार्ण किया था ।

व्यक्तित्व :-

आचार्य अमृत्वाग्भव जी के व्यक्तित्व में बहुत सी विशेषतॉए थी । उनका व्यक्तित्व उन युगप्रभावकारी महापुरूषों के समान था, जो अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से तत्कालीन समाज को बदलने में समर्थ होते हैं ।

सिद्ध पुरूष :- आचार्य अमृतवाग्भव जी को दैवीज्ञान दुर्वासा ऋषि से प्राप्त हुआ था, जिससे पता चलता है कि उनमें सिद्ध पुरूष के पूर्ण लक्षण विद्यमान थे । इनके ज्ञान का मूल स्रोत भी सोमानन्द एवं वसुगुप्त की भांति दैवी ही था ।

सर्वशास्त्र मर्मज्ञ :- आचार्य अमृतवाग्भव तो दर्शन शास्त्र के मर्मज्ञ थे । इसी मर्मज्ञता के आधार पर ही इन्होंने अद्वेत शैव दर्शन को एक नवीन दिशा दी । धर्मशास्त्र में भी आचार्य पूरी तरह से निष्पात थे । इस तरह यह सर्वशास्त्रों के मर्मज्ञ थे ।

कुलीन एवं अद्वैत ज्ञानी : आचार्य जी सत्कुलीन, अनन्य शैव भक्त, वैराग्यवान एवं परम अद्वैत ज्ञानी थे । ''परमशिवस्तोत्र'' से स्पष्ट होता है परमसत्तोत्र के प्रति अधिक स्नेहभाव के कारण इन्हें संसार के प्रति विरक्ति थी ।[1] इससे शिव के प्रति आचार्य की अगाध भक्ति स्पष्ट झलकती है ।

अथक परिश्रमी एवं संघर्षशील :- आचार्य जी एक निर्धन परिवार से सम्बन्ध रखते थे । माता पिता के देहान्त के पश्चात् छोटी सी आयु में ही घर का सारा भार इनके कन्धों पर आ पड़ा । फिर भी आचार्य ने परिवार का संचालन, योगाभ्यास एवं शिक्षा में कोई भी कमी नहीं आने दी । आचार्य ने अपने अध्ययन को सुचारू रूप से चलाए रखने के लिए सम्पादन तथा ''प्रूफरीडिंग'' जैसे कार्यों को अपनाया । इससे न केवल उन्होंने अपनी शिक्षा का खर्चा चलाया, बल्कि घर का प्रबन्ध भी उसी से चलता रहा ।

---

1) वैराग्यज्ञानभक्ताद्यनादृतस्वजगत्पथ : ।
वदान्यपरमाऽपारकरुणालोलसत्कुत: ।। (आ. वि. 7/1)

इन्होंने अपने संघर्षमय जीवन से यह सिद्ध कर दिया की कठिन परिश्रम, सहनशीलता, लगन और लक्ष्य के प्रति समर्पिकता की भावना से असम्भव कार्य को भी सम्भव बनाया जा सकता है ।

कुशाग्र–प्रतिभा एवं स्मृतियुक्त :– आचार्य महोदय की बुद्धि बहुत ही कुशाग्र थी वह स्फुट प्रतिभा शक्ति से सम्पन्न थे । माता पिता के देहान्त के पश्चात् घर का सारा भार इनके कंधों पर आने से जब इनका अध्ययन–कार्य बाधित होने लगा तब इन्होंने अपने पितृत्व से संस्कृत जैसी कठिन भाषा को भी बहुत शीघ्र ही सीख लिया तथा उसमें निपुण हो गये । इन्होंने व्याकरण जैसे दुर्बोध शास्त्र को भी शीघ्र ही समझ कर हृदयगम कर लिया । यह अपने को एक परम विद्वान मानते थे और इसका इन्हें स्वाभिमान भी था ।[1]

त्रिकालज्ञ :– आचार्य अमृतवाग्भव जी एक त्रिकालज्ञ साधु थे । इनके ''आत्मपरिचय'' नामक लघु काव्य से पता चलता है कि इन्होंने भूत और भविष्य का अपने योग के बल से वर्तमान में अनुभव कर लिया था । इसी सामर्थ्य से यह अपने पूर्वजीवन के वृतान्तों को जानते थे । अपने जीवन के पूर्वचतुर्थ जन्म में यह देवलोक में एक विद्याधर थे और साधु वेश में ही रहते थे ।

---

1) (क) ''समुद्भूतः कोऽपि विद्वदपश्चिमः ।'' (आ. वि.– 7/2)
(ख) ''वपुर्विद्वद्वरिष्ठः स्वयं ।'' (वही, 7/9)

दूसरे विद्याधरों की ईर्ष्याद्वेष के कारण इन्हें अपने पर झूठा लांछन लगने से अपने गुरू के क्रोध का भाजन बनना पड़ा, जिसे इन्होंने सहन नहीं किया । गुरू ने क्रोधित होकर आचार्य को चार बार मृत्युलोक में जन्म लेने का शाप दे दिया । लेकिन वर्तमान चतुर्थ जन्म में भगवान दुर्वासा की कृपा से शाम्भव योग की दीक्षा के अभ्यास के कारण मृत्युलोक से छुटकारा पाकर ऊर्ध्वतोक की प्राप्ति होने का इन्हें पता लग जाना इनके भविष्यत् ज्ञान का प्रबल द्योतक है ।

ब्रह्मचारी :- आचार्य जी को लोकाचार से ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनका विवाह हुआ था । परन्तु परमहंस रामकृष्ण की भाँति अपनी पत्नी से इनका शरीरिक सम्बन्ध कभी नहीं रहा और आध्यात्मिक रूप से यह सदा परमसत्ता में लग्न रहते थे । अतः आचार्य एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे ।

राष्ट्रवादी :- आचार्य अमृतवाग्भव जी एक उच्च कोटि के राष्ट्रवादी भी थे । जिसका पता इनके ''राष्ट्रलोक '' नामक राजनीतिक ग्रन्थ से चलता है । राष्ट्रलोक में इन्होंने राजनीति के कर्णधारों के लिए जिन आधारभूत नैतिक मूल्यों का सिद्धों के शैवी दृष्टिकोण से वर्णन किया है , वह आज के वैज्ञानिक युग में विश्व शांति के लिए परम आवश्यक है । यह एक मौलिक लेखक के साथ-साथ सफल भाष्यकार भी थे । इन्होंने बहुत सी कहानियों, गजलों और काव्यों की रचना भी की है ।

जीवनमुक्त :- आचार्य की ''आत्मविलास'' नामक रचना से प्रतीत होता है कि यह एक जीवन्मुक्त की दशा के अनुभावक थे । जिस प्रकार गीता में ब्रह्मज्ञान की स्थिति प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण ने कहा है कि न तो उसके लिए कुछ अपर्याप्त होता है औंर न कुछ प्राप्नीय होता है, उसका आचार व्यवहार केवल लोक संग्रह के लिये होता है ।[1]

लोग तो ''महाजनों येनगता सः पन्थः '' उक्ति अनुसार महापुरूषों के बताये हुए रास्ते पर हीं चलते हैं । इसी प्रकार आचार्य ने शिवैक्य की प्राप्ति होने पर भी लोक -कल्याण के लिये लिखा और उसके पीछे इनका अपना कोई निहित स्वार्थ नहीं था । यह अपने आप को सदेव शिवरूप में हीं अभिव्यक्त करते हैं ।[2]

शिवत्व प्राप्ति :- अक्तुवर 1982 ई0 पू0 में शिव की इच्छा से ही कार्तिक मास में शूक्ला नवमीं तिथि को इनका शिवधाम गमन हुआ । आचार्य के पार्थिव शरीर को हरिद्वार में पहुंचाया गया । वहॉ इन्हें नीलधारा में सन्यासियों की भॉति निर्धारित शास्त्रविधि के अनुसार जल समाधि दी गई । दिल्ली में तभी से लेकर के आचार्य की शिवैक्य प्राप्ति की तिथि के अवसर पर हर साल इनका निर्वाणोत्सव मनाया जाता है ।

---

1) न में पार्थस्ति कर्त्तव्यंत्रिषुलोकषे किंचन ।
नानावाप्तव्यंवर्त एव च कर्मणि ।। (भ. गी. 3/22)

2) सच्चिदानन्दरूपेण सच्दिानन्दरूपिणः ।
सच्चिदानन्दस्वरूपं स्पानन्दाय निरूपितम् ।। (आ. वि. 2/25)

निष्कर्ष :– आचार्य की उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट हो जाता है कि वह वहुमुखी प्रतिभा से युक्त विद्वान एवं महान पुरूष थे । उनका उच्च कोटि का व्यक्तित्व आचरण करने के योग्य है । आचार्य द्वारा दी गई शिक्षाओं एवं ज्ञान का अनुसरन करके मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है । अतः संसार में तभी परम शान्ति स्थापित हो सकती है,जब हम इनकी शिक्षाओं एवं ज्ञान पर आचरण करें ।

(ख) आचार्य का देशभ्रमण एवं देशिक विवरण

श्रीमदमृतवाग्भव आचार्य जी ने अपने जीवन काल में अनेक स्थानों का भ्रमण किया तथा उन स्थानों का भ्रमण करते–करते अनेक देवताओं एवं ऋषियों के दर्शन की प्राप्त किये । आचार्य को तीर्थ स्थानों के प्रति गहरी धार्मिक आस्था थीं, इसलिये इन्होंने यथासम्भव बहुत से तीर्थ स्थानों की यात्रा ही नहीं की, अपितु उनके मनोहारी दृश्यों का अथवा अनुभवों का वर्णन भी किया है । उन कतिपय यात्रा विवरणों का उल्लेख इस प्रकार है –

हिमाचल प्रदेश :– आचार्य महोदय ने सुना था कि हिमाचल प्रदेश में बहुत–सी पावन नदियाँ और धार्मिक तीर्थ स्थान है, इसी अभिलाषा से वह हिमाचल प्रदेश में भ्रमण करने गए थे । वास्तव में हिमाचल प्रदेश के दृश्य देखने में बहुत ही रमणीय हैं, उनको देखने से मन में स्फुर्ति उत्पन्न होती है, पूज्यपाद ने भ्रमण करते हुए जिन–जिन धार्मिक तीर्थ स्थानों के दर्शन किए वे निम्नलिखित हैं :

निर्मण्ड :– मणिकर्ण तीर्थ को देखने की अभिलाषा से आचार्य भ्रमण करते हुए किन्नर देश (रामपुर बुशहर) में पहुँच कर पावन नदी शतद्रु (सतलुज) को पार करके कुल्लू देश को पहुँचे । कुल्लू देश में निर्मण्ड नाम का एक बहुत ही प्रसिद्ध स्थान है । इस स्थान पर कभी श्रीजमदग्नि के पुत्र (श्री परशुराम) ने तात्कालिक शासकों के अन्दर जो दोष उत्पन्न हुए थे, उनको जला डालने के लिए और सर्वसाधरण लोगों में पुण्यों का संचार करने के लिए तपस्या की थी । इस तीर्थ स्थान के दर्शन करने से पुण्य की प्राप्ति होती है ।

भुवन्तर :- हिमाचल प्रदेश में यह बहुत ही पवित्र स्थान माना गया है । इस पवित्र स्थान के दर्शन पर्वत की कई श्रेणियों को पार करके विपाशा (व्यास) नदी के पार जाकर उसके तट के साथ–साथ चलने वाले रास्ते से ऊपर की ओर क्रम से जाते हुए होते हैं । कुल्लू देश में प्रयागराज के समान दो पावन नदियों के सङ्गम से युक्त यह अर्थात् भुवन्तर नाम का एक मनोहर स्थान है । यहाँ पर पार्वती नदी अपने प्रवाहों से विपाशा नदी के साथ मिल कर क्रीड़ा करती रहती है । पूज्यपाद इस पवित्र संगम को भी पार करके और पार्वती नदी के भी उद्गम की ही ओर ग्यारह कोस का मार्ग चल करके उस पावन मणिकर्ण तीर्थ स्थान पर पहुँचे और वहाँ के मनोरम प्राकृतिक वातावरण का आनन्द लिया ।

मणिकर्ण :-आचार्य महोदय सन् 1931 ई0 पू0 में कुल्लू देश में मणिकर्ण तीर्थ की यात्रा को गए थे । इनका कहना है कि मणिकर्ण तीर्थ बहुत ही पावन, दिव्य और उछलते हुए जल प्रवाहों को धारण करने वाला है । वहाँ का जल स्वभाव से ही उष्ण है । पार्वती नदी ही इस तीर्थ को पुत्र के समान गोद में उठा करके इसका पालन पोषण करती है ।

पार्वती नदी :- हिमाचल प्रदेश में पार्वती नाम की एक पवित्र नदी बहती है, जिसका भ्रमण भी आचार्य जी ने किया था । जो कोई भी उस नदी में स्नान करता है, उसके पापों एवं रोगों की निवृत्ति सम्भव है । पार्वती नदी हिमालय पर्वत की पुत्री है ।

कांगड़ा :– हिमाचल प्रदेश के प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेने एवं वहॉ के तीर्थ स्थानों का अवलोकन करने के लिये इन्होंने वहॉ के अनेकों स्थानों की यात्रायें की थी, जिनमें से एक प्रमुख कांगड़ा भी है। आचार्य कुछ देर कांगड़ा मण्डल में ही रहे, परन्तु अधिक समय ठाणे में व्यतीत किया । कभी–कभी नगरोटा, भवन, समलोटा, पठियार, अमुबाड़ी कतनौर आदि ग्रामों में भी जाते रहे । इनके अतिरिक्त उन्होंने चामुण्डा देवी, वज्रेश्वरी देवी, वीरभद्र, चिन्तपूर्णी, नन्दिकेश्वर, वाणगंगा आदि के दर्शन भी किये । इसके अतिरिक्त वह समलोटी, जलबिम्ब, कालेश्वर, भागपुर देहरा, रानीताल, धर्मशाला, डाडा, नरमाणा, परतिपाल, हरिपुर, मौजें, खैरियां , सकरौटी, सन्ता कालका, झमाल धर्मपुर, जभाचा, सपाटू , मंगवाल, जिणोटा, दुमेटा पण्डितेड पडूआ आदि स्थानों पर भी गये ।

कश्मीर यात्रा :– पूज्यपाद की कश्मीर यात्रा अतीव महत्त्वपूर्ण थी । इस यात्रा को करते समय वे पूर्ण यौवन में थे । उनका शरीर स्वस्थ और बलवान् था । उनकी इच्छा शक्ति पर्याप्त प्रबल थी । फिर इस यात्रा से पहले तीर्थ यात्रा के चलते–चलते और कई वर्ष उसके अनन्तर भी वे भगवान् दुर्वासा के द्वारा उपदिष्ट उत्कृष्टतम शाम्भवी योगसाधना का अभ्यास प्रायः नियम–पूर्वक किया करते थे । उसके फलस्वरूप इन्हें कश्मीर मण्डल के अनेकों देव–स्थानों में अपूर्व दिव्यदर्शन होते रहे । अनेकों देवता अपने विचित्र रूपों में इन्हें दर्शन देते ही रहे । विशेष करके अमरनारथ की गुफा में जो शिव–शक्ति का दर्शन इन्हें प्राप्त हुआ, उसे इन्होंने अत्यन्त आश्चर्य कारक बतलाया है ।

ह्राल से 11 मील दूर भेड़गिरि नाम के पर्वत की उपत्यका में एक दिव्य स्थान हैं, जहॉ पर्वत शिखरों के मध्य एक बहुत बड़ा चश्मा है । उस चश्में में देवीं हंस वागीश्वरी का स्थान है । कल्हण ने ''राजतरङ्गिणी '' में लिखा है कि ''भेड़गिरि के शिखर पर भगवती हंस वागीश्वरी एक सरोवर के बीच में राजहंसी के रूप में अपने भक्तों को दर्शन दिया करती हैं ''[1] इन्होंने हंस वागीश्वरी के सरोवर में स्नान किया और वहां के दृश्यों को देखकर बड़ा आनन्द लिया ।

इनके अतिरिक्त इन्होंने कश्मीर के बारामूला, अनन्तनाग, पहलगाम, शेषनाम, चन्दनबाड़ी , पंचतरणी, मटन (मार्तण्ड क्षेत्र), सोपुर, कठोला, शर्दीबाल, पुखरीबल, सीर, साली, हांगलगुण्ड आदि स्थानों की भी यात्रा की ।

विविध स्थल यात्रा :- हिमाचल और कश्मीर के अतिरिक्त इन्होंने चण्डीगड़ में सुहाना, पंजाब के नालागड़, दिल्ली, उत्तरप्रदेश , हरियाणा, जम्मू इत्यादि प्रदेशों की यात्रा भी की, जिसमें इन्होंने वहॉ के प्रसिद्ध स्थानों एवं मन्दिरों का भ्रमण किया ।

---

1) देवीं भेदगिरेः श्रृङ्गे गङ्गोद्भेदशचौ स्वयम् ।
सरोऽन्तदर्श्यते यत्र हंसरूपा सरस्वती ।। (रा. त. -)

देशिक विवरण :–

आचार्य अमृतवाग्भव जी ने जिन–जिन देवताओं एवं ऋषियों के दिव्य दर्शन प्राप्त किये उनका विवरण इस प्रकार है :–

दिव्य स्त्रियाँ एवं पुरूष दर्शन – विक्रम संवत् 1985 में माघ की अमावस्या के दिन जब आचार्य हिमालय पर्वत की उपत्यका में मार्ग भूल गये, तो वहाँ उन्होंने हाथों में द्रॉन्तियां ली हुई तीन स्त्रियाँ और बांसुरी बजाने वाले एक पुरूष के दर्शन किये, जो उन्हें मार्ग दिखाकर बिजली की तरह (क्षणों में ही) कहीं अदृश्य हो गए । यह परम आश्चर्य को उत्पन्न करने वाली घटना पूर्णगिरि (पुन्ना गिरि, जि. नैनीताल) के वन में मार्ग में जाते हुये घटित हुई ।

दिव्यज्योतिर्लिंग दर्शन :– विक्रमी–संवत् 1986 में श्रावण के शुक्ल पक्ष की दिवाचतुर्दशी तिथि को सोमवार के दिन आचार्य जी ने अमरनाथ की गुफा के भीतर एक अति विचित्र रोमाञ्चकारी और दिव्यातिदिव्य ज्योतिर्लिंग के दर्शन पाये । उस ज्योतिर्लिंग की कान्ति नन्दनवन की कदली के गर्भ के समान गौर थी । वह एक सुविशाल कदली स्तम्भ जैसा उँचा था । लम्बे–लम्बे केशों के अग्रभागों से उसका कटि प्रदेश शोभायमान वन रहा था । उसकी विशालता का अनुमान कुछ नहीं लगता था । उसके घुटने और चरण–कमल ही स्पष्ट दिखाई दे रहे थे । उसके चार पैर थे ।

शारदा देवी दर्शन :– विक्रम सम्वत् 1986 में आश्विन शुक्ल पक्ष की नवमी को दिन के समय शारदा देवी के मन्दिर के आंगन में आचार्य जी ने श्वेत, लाल और सांवले वर्ण के तीन सारिका पक्षियों के रूप में भगवती शारदा माता के दर्शन किये । शारदा देवी के इसी रूप को प्राचीनकाल में दिव्य सहस्र वर्ष तप करके महर्षि शण्डिल्य मुनि ने देखा था ।

दिव्य लोक दर्शन :– विक्रम सम्वत् 1986 में कार्तिक शुक्लपक्ष की दशमी को कश्मीर देश में बारामुला स्थान पर रात के समय श्रीमदमृतवाग्भव आचार्य जी ने भगवती शैलपुत्री के स्थान में एक अद्भुत दृश्य देखा जिसमें उन्होंने असंख्य ब्राह्माण्डों को बुलबुलों की तरह प्रकट होते हुये देखा, जिसमें से विचित्र ढंग की गतियों, शब्दों और अर्थों से युक्त सहस्रों लोक एक से थे जिनमें से कई एक के भीतर उन्होंने अपने वर्तमान जन्म के इस शरीर के भी दर्शन किये ।

पञ्चकोष्ठदर्शन :– विक्रम सम्वत् 1987 में चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की पञ्चमी तिथि को प्रातःकाल के समय आचार्य जी ने कार्कोटनाग के स्थान पर वेदान्तियों के द्वारा पूजित पांचों कोशों आनन्दमय विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय के दर्शन किये ।

सिद्धमहापुरूष दर्शन :– विक्रमी सम्वत् 1987 में, भाद्रपद मास में शुक्ल पक्ष में श्रीनगर में आचार्य ने सारिका भगवती के ऑगन में आकृति से कश्मीरी प्रतीत होने वाले और शिवजी नाम वाले महापुरूष के दर्शन किये । उस महापुरुष ने आचार्य को एकान्त में ले जाकर मायाकुण्डलिनी पद्य का दार्शनिक और साधनात्मक रहस्य बताया और फिर अदृश्य हो गये ।

शिव दर्शन :– विक्रमी सम्वत् 1988 में कुल्लु प्रदेश में (सुलतानपुरी में) श्मशानेश्वर के समीप बनी हुई धर्मशाला में आचार्य जी ने पुनः शिवजी के दर्शन किये । शिवजी ने अपने कमण्डल में से उन्हें दिव्य जल को पिलाकर जीवनदान देने वाली त्रयम्बकं मन्त्र की विद्या प्रदान की । शिवजी का शरीर काले–पीले गन्दमी वर्ण का था । उन्के हाथों में कमण्डल और त्रिशुल थे ।

अद्भुत विभूति दर्शन :– विक्रम सम्वत् 1990 में वैशाख के महीने में, नालागढ़ में आचार्य ने एक ऐसे महापुरूष के दर्शन किये, जिनकी दाढ़ी लम्बी थी, नेत्र बिजली के समान थे, बाल घने थे और जो रोमों से भरे हुए, तर्जनी को ऊपर उठा–उठा कर गर्जते हुए, वात्सल्य से युक्त हृदय वाले थे ।

पुण्यात्मा के दर्शन :– विक्रम सम्वत् 1991 में रोपड़ (पंजाब) नामक नगर में, मार्गशीर्ष मास के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी को जब आचार्य ने रोग से अत्यन्त पीड़ित होकर यह प्रतिज्ञा की कि वह गंगा नदी के पवित्र तट पर अनशन व्रत करके अपने शरीर को उसमें गिरा देंगे, तब किसी श्वेत केशों वाले तथा श्वेत दाढ़ी और मूछों वाले, चन्द्रमा के समान गौर वर्ण वाले, सुन्दर और पवित्र मुस्कराहट से युक्त, श्वेत वस्त्रों वाले श्वेत भौहों और रोमों वाले, शरीर से निकलते हुए प्रकाश के द्वारा जिसने रात को भी दिन जैसा बना दिया था, ऐसे वयोवृद्ध तथा दिव्य आकृति वाले किसी बड़े ही पुण्यात्मा महापुरूष के दर्शन किये, जिन्होंने उनसे उस प्रतिज्ञा को तोड़ने के लिए कहा ।

अद्भुत छत्र दर्शन :- विक्रम सम्वत् 2003 में आश्विन महीने के द्रधकुच्छन नामक पर्वत पर, कश्मीर मण्डल में टीठवाल नामक स्थान से चारकोस दूर ऊपर पहाड़ी के शिखर पर तम्बू में रहते हुए मध्याहन के समय आचार्य जी ने लटकते हुए मोतियों और रत्नों के झालर से युक्त, जड़े हुए हीरे आदि रत्नों वाले, आकाश में निराधार ठहरे हुए एक स्वर्ण निर्मित, चमकीले तथा विशालकाय एवं अद्भुत छत्र को देखा ।

गंगा जी के दर्शन :- विक्रम सम्वत् 2004 में आषाढ़ के महीने में कनखल नामक तीर्थ पर, श्रीदक्षेश्वर के समीप, बिरलाघाट पर आचार्य जी ने पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा निर्मित श्रीगंगालहरी नामक स्तोत्र का मधुर स्वर में पाठ करते हुए दिव्य रूप वाली गंगा भगवती को भयानक वेग वाले गंगा के प्रवाह में देखा । उनके शरीर का रंग चम्पक पुष्प की तरह गौर था तथा भौरों के समान श्याम वर्ण वाले उनके केश खुले हुए थे । गंगालहरी के पाठ के रूक जाने पर वह देवी गंगा अदृश्य हो गई ।

दिव्य मण्डल दर्शन :- आचार्य जी ने विक्रम सम्वत् 2014 में माघ के महीने में दिल्ली में बुद्धमन्दिर के पास एक ऐसे मण्डल के दर्शन किये, जो अतिसूक्ष्म तन्तु के किनारे पर था, जिसका ऊपर वाला आधार कहीं दिखाई नहीं दे रहा था तथा जो लटकते हुए हीरे के समान चमकीले, घूमते हुए, शब्दायमान, गोलाकार, पवित्र और विशालकाय (मण्डल के समान) था ।

इसके मध्य में से एक और तन्तु निकल रहा था, जिसके किनारे पर घूमते हुए, विचित्र नाद वाले, स्फटिक मणि की तरह चमकते हुए सुन्दर और गोलाकार एक और मण्डल के भी आचार्य जी ने दर्शन किये । इस प्रकार आचार्य जी ने एक–एक करके कई मण्डलों के दर्शन किये ।

इष्ट देवी दर्शन :– विक्रम सम्वत् 2039 में दिल्ली में मोतीबाग नामक बस्ती में आचार्य जी ने देसराज शर्मा नाम के ब्राह्मण के घर शरदऋतु में अपनी इष्टदवी के बाला रूप के दर्शन किये ।[1] उस बच्ची ने पैरों में पांयजेबें पहनी हुई थी [2] तथा उसके मुख की आभा बहुत ही सुन्दर थीं ।

भगवान दुर्वासा का दर्शन :– आचार्य अमृतवाग्भव जी ने अनेक देवी–देवताओं के दर्शन तो किये ही साथ ही भगवान् दुर्वासा के भी साक्षात् दर्शन किये । जिसका विस्तृत वर्णन उन्होंने ''श्रीदेशिकदर्शनम् '' में बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है, उनके शरीर, वेशभूषा एवं भाव भंगिमा आदि का वर्णन इस प्रकार है –

शरीर :– आचार्य का कथन है कि भगवान् दुर्वासा का शरीर पतला और लम्बा है । उनके शरीर की कान्ति तपे हुए स्वर्ण की कान्ति के समान गौर है । उनके नेत्र विशाल है और नेत्रों के तारे शहद के समान पिङ्गल वर्ण के है ।[3] उनके केश भी लम्बे एवं पिङ्गल वर्ण के हैं । उनकी दाढ़ी लम्बी है शरीर का वर्ण खूब चमकीला है ।

---

1) ''तदैका कन्यका दृष्टा मया कौमारविग्रहा ।'' (सि. रह. आह. 9/2)

2) '' पादयोर्नूपरे तस्या अभूतां ये महोज्जवले '' । (सि. रह. आह. 9/4)

3) तप्तकाञ्चनगौराभः प्रांशुदेहः कृशाङ्गवान् । (दे. दर्श. श्लोक – 1)
मधुपिङ्गल–तारावद्विशाल – नयनाञ्चितः ।।

उनकी भौहें धनुष के समान वक्र है, मूछें लम्बी हैं, बाहु विशाल हैं, दान्त चमकीले और सफेद हैं, चेहरा लम्बा है, माथा विशाल है, मुख में मुस्कराहट है, कपाल सुन्दर है तथा दृष्टि प्रसन्न है । भगवान् दुर्वासा जी के सारे शरीर पर रोम है । उनका नाक तोते की नाक की तरह मध्य में ऊपर उभरा हुआ है । उनके कान बड़े–बड़े हैं, हाथ और पैर अरूण वर्ण के हैं । ठोडी सुपुष्ट है, सिर विशाल है, ग्रीवा शंख के समान वर्तुल है और पेट भीतर की ओर चिपका हुआ–सा है ।[1]

वेष भूषा :– पूज्यपाद अमृतवाग्भव जी ने भगवान् दुर्वासा की वेष–भूषा का वर्णन करते हुए कहा है कि उन्होंने नींचे अगोछे का जैसा एक वस्त्र घुटनों तक लपेटा हुआ है और ऊपर पण्डितों की चादर जैसा वस्त्र धारण किया हुआ है । ऊपर वाला वस्त्र दॉएं बाजू को ऊपर उठाकर यज्ञोपवीत की शैली पर पहना हुआ है । अर्थात् उसका एक छोर आगे से और पीछे से लटक रहा है । उनके वस्त्र हिमधवल के समान श्वेत नहीं हैं । जरा मलिन से है, फिर भी स्वच्छ और उत्तम हैं । वे गले में रूद्राक्षों की माला पहने हैं सिर पर भी एक और ऐसी माला पहने हैं । उन्होंने कलाईयों में छोटे–छोटे रूद्राक्षों के सुन्दर कड़े धारण किए हुए हैं तथा कानों में भी रूद्राक्ष ही पहने हैं । उन्होंने माथे पर भस्म का त्रिपुण्ड् लगाया है ।

---

1) किञ्चिल्लम्बाननः कम्बुग्रीवः पृथुलमस्तकः ।
महाहनुः शोणपाणिः शोणपादो वृकोदरः ।। (दे. दर्श. श्लोक – 4)

भावभंगिमा :- आचार्य जी अपने गुरू भगवान् दुर्वासा की भावभंगिमा और महिमा आदि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वे तीनों ही कालों अथात् भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान रखते हैं । वे मुनियों में श्रेष्ठ हैं और निग्रह तथा अनुग्रह की लीला का अभिनय करने के लिए इस भूलोक में अवतार के रूप में उतर अवतरित हुए हैं ।[1] उनका चित्त प्रशान्त है, अन्तरारत्मा निर्मल और सुप्रसन्न है । वे धर्म की साक्षात् मूर्ति हैं । अपनी साक्षात् अनुभूति से वे निगमों और आगमों के अर्थात् वेदों और तन्त्रों के रहस्यों को जानने वाले हैं । अपने आनन्द के रस में आते हुए अपनी लीला के अभिनय में वह प्रायः क्रोध की प्रधानता को अपना करके ही लोगों पर अनुग्रह करने वाली नाट्य लीला को खेलते रहते हैं । वे ही शरीरधारी शिव हैं और यथार्थ सन्मार्ग पर चलने वाले सिद्धों के एक आदि गुरू हैं । वे मेरे (भगवान दुर्वासा) '' शाकदर्शन '' के गुरू हैं, एवं सुविशाल अनुग्रह की साक्षात् मूर्ति हैं ।[2] वे संसार में ''कोपभट्टारक'' नाम से विशेषतया प्रसिद्ध हैं ।

---

1) प्रशान्तधीः प्रसन्नात्मा त्रिकालज्ञो महामुनिः ।
निग्रहानुग्रहौ कर्तुभवतीर्णो महीतले (दे. दर्श. श्लोक – 8)

2) कोपभट्टारक इति ततोऽयं सुप्रथामगात् ।
महानुग्रहरूपो में देशिकः शाकदर्शने ।। (दे. दर्श. श्लोक – 11)

दिव्य त्रिमूर्ति दर्शन :- आचार्य अमृतवाग्भव जी ने व्यास नदी के तट पर स्थित एक धर्मशाला में रोगग्रस्त मुद्रा में पड़े हुए दिव्य शरीर धारण किये हुए तीन महापुरूषों के दर्शन किये । ये तीनों ही महापुरूष गौर वर्ण के थे, उनके चेहरों पर लालिमा छाई हुई थी, इनके नेत्र कमल के समान विशाल थे तथा उनके अधरों पर निर्मल एवं मन्द-मन्द मुस्कराहट थी ।[1] उनकी नासिकाएँ बड़ी सुन्दर थीं, माथे बहुत विशाल थे, बाल काले एवं कान बड़े-बड़े थे तथा उन्होंने फूलों की मालाएँ पहनी हुई थी ।[2]

इन तीनों ही महापुरूषों के निचले वस्त्र अर्थात् धोतियाँ चाँदनी के समान श्वेत थी, उनके ऊपरी वस्त्र अर्थात् दुपट्टे हँसों की कान्ति के समान थे, उन्होंने रेशमी अँगरखे धारण किये हुए थे तथा उनके पादयुगल सुन्दर जूतों से अलंकृत हो रहे थे ।[3]

---

1) त्रयः पुमाँसो मम वामभागे दिव्यं स्वरूपं परमं वहन्तः ।
आरक्तगौरा नलिनायताक्षाः सन्ति स्थिता निर्मलमन्दहासा : ।। (स॰. दर्श. श्लो. -22)

2) सुनासिकास्ते सयुविशालभाला बन्धूकपुष्पाऽरूणसत्कपोलाः ।
स्फुरद्द्विरेफाऽऽवलिनीलबाला विशालकर्णा धृतपुष्पमालाः ।। (स॰. दर्श . श्लो.-23)

3) शशिप्रभावन्मसृणाऽन्तरीया हंसप्रभावल्लसदुत्तरीयाः
कौशेयकूर्पासकशेभिदेहाः सत्पदुकाऽलङ्कृतपादयुग्माः ।। (स॰. दर्श.श्लो.-24)

उनके मस्तक चमकते हुए मुकुटों से शोभायमान थे तथा उन्होंने कानों में कुण्डल पहने हुए थे । उनके हाथों में मोती, मूंगों तथा हीरों की अँगूठियाँ चमक रही थी । वे तीनों ही महापुरूष न तो अधिक मोटे थे और न हीं अधिक पतले थे, न तो अधिक लम्बे थे तथां न हीं अधिक बामने थे ।[1]

दिव्य महापुरूष दर्शन :– आचार्य अमृतवाग्भव जी ने व्यास नदी के तट पर धर्मशाला में तीन महापुरूषों के अतिरिक्त एक अन्य दिव्य महापुरूष के दर्शन भी किये जिसका रंग अग्नि के समान कृष्ण पिंगल था एवं उसका शरीर पतला, ऊँचा तथा तेजस्वी था । उसका देदीप्यमान रूप चन्द्रमा के समान आनन्द देने वाला था ।[2] उसके बाल घुटनों तक लम्बे तथा भौंरो की श्रेणियों के समान काले एवं चमकदार थे । उस महापुरूष ने अर्धचन्द्र को धारण किया हुआ था तथा उसकी मूछों के बाल काले थे एवं दाढ़ी लम्बी तथा घनी थी ।

---

1) स्थूला न तुङ्गा न कृशा न ह्रस्वाः,
करेषु यष्टीरपि धारयन्तः । (सं॰ दर्श, श्लो–26)

2) कृशानुवत् पिङ्गलकृष्णवर्णो भास्वानिव प्रोज्ज्वलदात्मतेजाः ।
प्रोत्तुङ्गवर्चस्विशरीरयष्टिराहल ाददश्चनद्र दवाऽऽबभास ।। (सं॰ दर्श. श्लो–28)

उस महापुरूष की नाक तोते के समान, कमर पतली तथा कन्धे मोटे और ऊँचे थे । उसका वक्षस्थल विशाल था तथा उसकी नाभि गहरी थी । वह लम्बे बाजुओं वाला तथा हृष्ट पुष्ट शरीर वाला था ।[1] उसके कान गणेश जी के समान लाल रंग के और विशाल थे । उसका सिर तथा टाँगे लम्बी थीं । उसके हाथ तथा पैर कमलों जैसे थे । उसका मुख लम्बा था और उसके दाँत हीरों के समान थे ।

उसके ऊपरी और निचले वस्त्र गेरूए रंग के पवित्र तथा जीर्ण थे । उसने गले में रूद्राक्ष की माला पहनी हुई थी तथा माथे पर भस्म लगाई हुई थी ।[2] उस महापुरूष ने आचार्य जी को त्रैयम्बकमन्त्र का उपदेश भी दिया । आचार्य के अनुसार वह महापुरूष शिव ही रहे होंगे क्योंकि इस मन्त्र के प्रभाव को कहने में शिव के अतिरिक्त कोई अन्य अज्ञानी जीव समर्थ ही नहीं हो सकता है ।

---

1) नासां वहन् कीरकुलाऽवतंसां वक्षो विशालं कृशमध्यभागः ।
पीनोन्नताँसः सुगभीरनाभिः प्रलम्बबाहुः परिपुष्टगात्रः ।। (स० दर्श श्लो.–32)

2) ऊर्ध्वांशुकं जीर्णामधोंशुकं च काषयवर्णा प्रयतं दधानः ।
रूद्राक्षमालाऽस्ति गले यदीये भस्मत्रिपुण्ड्राञ्चितभालदेशः ।। (स० दर्श श्लो.–34)

अध्याय - द्वितीय

श्री अमृतवाग्भवाचार्य की कृतियाँ

श्री अमृतवाग्भवाचार्य की कृतियाँ

आचार्य अमृतवाग्भव एक उच्च कोटि के विद्वान थे । इन्होंने अपने ज्ञान, विज्ञान, अनुभव, योग–बल एवं साधना से जो भी अर्जित किया था, वह उसे परोपकारार्थ साधारण लोगों की भलाई के लिए सर्वसुलभ करना चाहते थे । यही कारण है कि आचार्य ने अपने उपदेशों को मौखिक रूप तक ही सीमित नहीं रखा, प्रत्युत अपने उपदेशों को लिखित रूप भी दिया ताकि वह अक्षुण्ण भी रह सके । जिस प्रकार मेघ समुद्र से जल का ग्रहण किसी स्वार्थवश नहीं करता है, अपितु संतप्त – धरती और प्राणियों की शान्ति के लिये उस का विसर्जन करता है, उसी प्रकार सत्पुरूष स्वभाविक रूप से परोपकारी होते हैं । उनका अपना स्वार्थ कुछ नहीं होता, अपितु निष्काम भावना से ही वह जो कुछ भी ग्रहण करते हैं, वह परजनहितार्थ ही होता है । आचार्य ने अपने जीवनकाल में बहुत सी कृतियाँ लिखी, जो प्रमुखतया धर्म, राजनीति, दर्शन, भक्ति और राष्ट्रीय एकता की विचारधारा से ओतप्रोत थी ।

आचार्य अमृतवाग्भव द्वारा विरचित कृतियों के नाम इस प्रकार से हैं :–

1) परमशिवस्त्रोत्र

2) महानुभवशक्तिस्तव

3) परशुराम स्तोत्रम

4) अमृतस्तोत्र संग्रह

5) वस्तु – स्थिति प्रकाश

6) आत्मपरिचय

7) सूक्ति लहरी

8) सिद्धमानव दर्शनम्

9) चारूसन्देश

10) बालाम्बास्तव

11) असम्पादित श्लोक संग्रह

12) पिकप्रत्युक्ति

13) अमृतसूक्तिपञ्चाशिका

14) संक्रान्ति पञ्चाशिका

15) आत्मविलास

16) महानुवशक्तिस्वव

17) सिद्धमहारहस्यम्

18) त्रिगुणेश्वर स्तोत्रम्

19) विंशतिका शास्त्र

20) मन्द्राक्रान्ता

21) देवी स्तोत्रम्

22) पवननन्दनाष्टकम्

23) रामाश्वघाटीस्तव

24) परशिवाष्टकम्

25) बालकृष्ण दशकम्

26) प्रभोशम्भो प्रार्थना

27) स्वाध्यायमहिम स्तोत्रम्

28) सप्तपदीहृदयम्

29) अवधूताभिवादनम्

30) राष्ट्रलोक

31) राष्ट्रसंजीवन भाष्य

32) बालकमांपाहि

33) महागुरू श्री कृष्ण स्तोत्र

34) आपूपिकेश्वर स्तोत्रम्

35) संजीवनी दर्शनम्

36) देशिक दर्शनम्

37) श्रीकृष्णगीतदशकम्

38) कृतघ्न मित्रं प्रतिपत्रम्

39) वरकलवंशवृत्तम्

इन कृतियों का विषयानुसार विवरण इस प्रकार है :-

अ) आचार्य की दार्शनिक एव स्तुतिपरक कृतियॉ

(क) दार्शनिक ग्रन्थ

श्री परम शिव स्तोत्र :- दर्शन शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में ''परमशिवस्तोत्र'' का नाम सर्वप्रथम आता है । '' परमशिवस्तोत्र '' एक ओर से स्तोत्र काव्य है एवं दूसरी ओर से एक गहन दर्शन शास्त्र भी है । यह सैद्ध दर्शन का एक सुन्दर ग्रन्थ है । तभी तो कहा गया है कि इसके रहस्य को सद्गुरू के उपदेश से जानकर यदि इनका अभ्यास किया जाए तो जीव शिव बन सकता है । इस स्तोत्र को सद्गुरू के मुख कमल से प्राप्त करके एकाग्रचित होकर पाठ करता हुआ पशु प्रमाता अर्थात् बद्ध जीव पशुपति अर्थात् शिव का बन सकता है ।[1] इसका निर्माण सन् 1962 इ0 पू0 में किया गया । इस प्राकृत स्तोत्र में छत्तीस तत्वों के रूप में स्वात्म परमेश्वर की स्तुति की गई है ।

---

1) सम्प्राप्य गुरू वक्त्राब्जाच्चेत सानन्यगामिना

सम्पठन् स्तोत्रमेतत् स्मात् पशु : पशुपति : किला (प. शि. स्तो. श्लोक - 44)

वस्तु–स्थिति प्रकाश : आचार्य द्वारा रचित ''वस्तु स्थिति क्या है'' इस शीर्षक से श्रीस्वाध्याय में इनकी एक लेखमाला प्रकाशित हुई थी। उन लेखों का संग्रह करके और आवश्यकता के अनुसार उनका स्पष्टीकरण करते हुए ''श्री पीठ नाम के सैद्ध शोध-संस्थान'' की और से सन् 1984 में उनको पुनः प्रकाशित किया गया। इस लेख माला को पुस्तिका के आकार में ''वस्तु – स्थिति प्रकाशः '' इस शीर्षक से प्रकाशित करते हुए इसकी बधाई ''श्री परमशिव स्तोत्र '' के साथ एक ही जिल्द में कराई गई। इस लघु रचना में सात उन्मेष हैं। इनमें क्रमशः वस्तुस्थिति का तत्व, आत्मनिवेदन, भेद में भी अभेद, आत्म–साक्षात्कार किसको और आत्मा का ही, कर्त्तव्य और सुखी कौन का वर्णन किया गया है।

आत्मविलास :

यह ग्रन्थ दर्शनविद्या का एक नवीन ढंग से प्रतिपादन करने वाला दर्शन ग्रन्थ है एवं आचार्य अमृतवाग्भव जी के तर्क प्रधापन दर्शन ग्रन्थों में सर्वोत्तम है। इसमें ''आत्मा '' अर्थात परमसत्ता के अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी ऐश्वर्य का सफल प्रतिपादन किया गया है। 1930 ई0 पू0 में इस ग्रन्थ का निर्माण काश्मीर मण्डल के भीतर पाम्पोर (पद्रमपुर) और शुपयन के बीच में राजमार्ग पर बसे हुए ''हवाल'' नाम के गाँव में वहाँ के एक तत्कालीन निवासी ब्राह्मण ''कण्ठभट्ट '' के घर में हुआ। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में रचा हुआ एक कारिकाबद्ध ग्रन्थ है। आचार्य द्वारा प्रदत्त इस पर व्याख्या

को उनके नालागढ़ (हि. प्र.) निवासी शिष्य लब्भुराम द्वारा 1933 ई0 पू0 में लिख गया । इसका "सुन्दरी" नाम से 1936 ई0 पू0 में प्रथम प्रकाशन हो गया । इसका दूसरा संशोधित प्रकाशन जम्मू में हुआ । इसकी विस्तृत टीका अभी अप्रकाशित है ।

महानुभवशक्तिस्तव :

यह एक लघुकाय ग्रन्थ है । एक ओर से यह दर्शन ग्रन्थ है और दूसरी ओर से स्तोत्र काव्य है । इसमें आचार्य ने परमेश्वर की अभिन्नरूपता पराशक्ति की स्तुति के रूप में बताया है कि उसके पाँच स्वरूपा (सोपानों) अर्थात् चित्र्, आन्नद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति के विमर्शात्मक अन्तः परिस्पन्दन से ही परमेश्वर सुष्टि, संहार लीलाओं में सतत् प्रवृत्त रहता है । यह उसका निजी स्वभाव है, परमेश्वता है, जिसके कारण वह वेदान्त – सम्मत ब्रह्म की भान्ति मायादि पर अवलम्बित नहीं रहता । इसका निर्माण सन् 1936 ई0 पू0 में हुआ और संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी टिका के सहित इसका पुस्तकाकार प्रकाशन भरतपुर में 1953 ई0 पू0 में हुआ ।

विशंतिका शास्त्र :

इस लघुकाय दर्शन शास्त्र में प्रमुख रूप से स्वभाव की विशेषताओं मूल तत्व के रूप, स्वभावमयी विश्वमयी लीला एवं अनेक प्रकार की नामरूपतामक अभिव्यक्तियों का वर्णन किया गया है । इसका निर्माण भरतपुर के निवासी अनन्य भक्त एवं शिष्य मिश्र गोबिन्द शर्मा की प्रार्थना पर 1951

ई0 पू0 में किया गया । इस पर प्रो0 रामचन्द्र की ''प्रसादनी'' रघुनाथचन्द्र शास्त्री की ''प्रकाशिनी'' और डा0 बलजिन्नाथ पण्डित की ''विर्मशनी'' नामक तीनों टीकाओं सहित 1951 ई0 पू0 में इसका प्रकाशन मिश्र गोबिन्द शर्मा द्वारा भरतपुर में किया गया ।

सिद्धमहारहस्यम् :

यह ग्रन्थ सिद्धों की परम अद्वैव शैव दर्शन विद्या के अनेकों रहस्यमय दर्शन सिद्धांतों पर एक नवीन और अद्‌भुत ढंग से प्रकाश डालता है । इस ग्रन्थ की कारिकाओं का निर्माण पूज्यपाद आचार्य महोदय समय-समय पर करते रहे । पश्चात् उन सभी कारिकाओं का संग्रह और समुचित क्रम में रखकर इन्होंने सन् 1963 ई0 पू0 में भरतपुर में इसे एक ग्रन्थ का रूप दे दिया । इसमें विशेषकर शिव अथवा शक्ति नाम की अपेक्षा '' शाकः '' नाम की औचित्यता, जगत् प्रपञ्च की शक्तिरूपता, अपने इष्ट गुरू दुर्वासा की अनुग्रहरूपता, शाम्भव समावेश और उसके परिणामस्वरूप होने वाले दिव्यदर्शनों शाम्भवयोग की प्राप्ति के उपायों और भगवती त्रिपुरासुन्दरी के स्वरूप का वर्णन किया गया है । इस पर डॉ0 बलजिन्नाथ पण्डित द्वारा लिखित हिन्दी टीका का प्रकाशन 1983 ई0 पू0 में हुआ । विस्तृत व्याख्या अप्रकाशित है ।

मन्द्राक्रान्ता स्तोत्र :

आचार्य महोदय ने इस अनुपम स्तोत्र का निर्माण भगवती शैलपुत्री के तीर्थ पर 1929 ई0 पू0 में कश्मीर मण्डल में बारामूला नामक कस्बे में किया । इस स्तोत्र में जगदम्बा की महिमा सहित इनके सभी अंगों के अद्वितीय सौन्दर्य का वर्णन किया गया है । यह एक और से भगवान दुर्वासाकृत "त्रिपुरामहिमस्तोत्र" "ललितास्तवरत्न" की तथा दूसरी ओर से शंकराचार्य कृत "सौन्दर्यलहरी" की एवं कालिदासकृत "कुमारसम्भव" की स्मृति कराता है । इनके शिष्य डॉ0 बलजिन्नाथ पण्डित ने हिन्दी अनुवाद सहित इसका प्रकाशन 1979 ई0 पू0 और दूसरा प्रकाशन 1980 ई0 पू0 में इनके शिष्य रामनन्द शास्त्री द्वारा विस्तृत टीका सहित किया गया है ।

(ख) स्तोत्र ग्रन्थ

परशुराम स्तोत्रम् : आचार्य ने इसका निर्माण सन् 1932 ई0 पू0 में मार्तण्ड तीर्थ (मट्टन) पर काश्मीर मण्डल में किया था । आचार्य ने इस सुन्दर और श्रेष्ठ स्तोत्र में अनुष्ठान की विधि का वर्णन किया है, जिसके करने से मुकद्दमा , युद्ध, संघर्ष आदि में सफलता मिलती है । आचार्य की आज्ञा से मट्टन में एक बार इसका अनुष्ठान किया गया, जिसके फलस्वरूप कोई भी विधर्मी आज तक इस पर अपना अधिकार नही जमा सका । इसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन

1934 ई0 पू0 में हुआ । द्वितीय संस्करण का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन 1940 ई0 पू0 में सोलन में हुआ और तृतीय संस्करण का प्रकाशन 1957 ई0 पू0 दिल्ली में हुआ ।

त्रिगुणेश्वर स्तोत्रम् :

आचार्य ने दिल्ली में निज़ामुद्दीन रेलवे स्टेशन के पास स्थित मन्दिर में भगवान शिवलिंग की स्थापना के अवसर पर उसकी प्रशंसा में 1966 ई0 पू0 में त्रिगुणेश्वर स्तोत्र लिखा था । असका प्रथम और द्वितीय प्रकाशन क्रमशः 1966 ई0 पू0 , 1983 ई0 पू0 और हिन्दी टीका सहित 1984 ई0 पू0 में हुआ ।

देवी स्तोत्रम् :

यह स्तोत्र वियोगिनी छन्द में रचा हुआ भी अति सुन्दर और मनोहर है । इस स्तोत्र में रचना के देशकाल का कोई निर्देश नहीं किया गया है । इसका प्रकाशन जयपुर से आचार्य के द्वारा स्थापित संस्थान ने 1984 ई0 पू0 में प्रकाशित ''आचार्य श्री अमृतवाग्भवः दर्शन स्मारिका '' नामक ग्रन्थ में किया ।

अमृतस्तोत्रम् :

पूज्यवाद श्री आचार्य महोदय ने सन् 1982 ई0 पू0 में अपने माता–पिता के नाम पर दिल्ली में एक संस्था की स्थापना की जिसका नाम इन्होंने "विद्वद्वरकल श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान" रखा । संस्थान के प्रचार मन्त्री श्री रत्नलाल अग्रवाल ने सन् 1984 ई0 पू0 के आरम्भ में पूज्यवादजी द्वारा निर्मित उन स्तोत्रों का एक संग्रह तैयार किया जो पुस्तकाकार में प्रकाशित नहीं हुए थे । डा0 बलजिन्नाथ पण्डित ने उन स्तोत्रों का अनुवाद हिन्दी में किया । दिल्ली वाले संस्थान ने सन् 1984 ई0 पू0 में प्रकाशित किया ।

(आ) धर्मशास्त्रीय, राष्ट्रवादीय, काव्यपरक एवं विविध रचना में

ग) धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ :

पवननन्दनाष्टकम् : हनुमानजी की स्तुति के रूप में अपने परिव्राजक जीवन के प्रारम्भिक काल में आचार्य द्वारा इसका निर्माण हरिद्वार में 1929 ई0 पू0 में किया गया । हिन्दी अनुवाद के साथ 1984 ई0 पू0 में दिल्ली में इसका प्रकाशन किया गया ।

परिशिवाष्टकम् :

आठ श्लोकों वाले इस स्तोत्र में पूज्यवाद श्री आचार्य महोदय ने उस समय की अपनी दयनीय दशा को भगवान् शिव को निवेदन किया है । इस स्तोत्र का निर्माण इन्होंने 1929 ई0 पू0 में ऋषिकेश में किया । इसका प्रकाशन सन् 1984 ई0 पू0 में हिन्दी अनुवाद के साथ ''अमृतस्तोत्रसंग्रह'' में किया गया ।

बालकमांपाहि :

यह एक अतीव लघुकाय देवी स्तोत्र है जिसे गीति काव्य की शैली पर सन् 1929 ई0 पू0 में कश्मीर मण्डल में साधु गंगा तीर्थ पर रचा गया । इसे भी हिन्दी अनुवाद के साथ 'अमृतस्तोत्रसंग्रह'' में प्रकाशित किया गया ।

महागुरू श्री कृष्ण स्तोत्र :

इस स्तोत्र में कविवर ने एक साथ ही भगवान् श्री कृष्ण सहित अपने पूज्य पिता श्रीकृष्ण शास्त्री वरकले की भी स्तुति की है । यह स्तोत्र बहुत सुन्दर है । अर्थश्लेष के होते हुए भी इसके प्रसाद गुण में कोई त्रुटि नही आने पाई है । इस स्तोत्र का निर्माण इन्होंने सन् 1930 ई0 पू0 में काश्मीर मण्डल के अनन्तनाग जिले में ''काकोर्टनाग ''नामक तीर्थ पर किया था । हिन्दी अनुवाद सहित इसका प्रकाशन 1984 ई0 पू0 में हुआ ।

बालकृष्ण दशकम् :

आचार्य द्वारा इस स्तोत्र का निर्माण काश्मीर मण्डल के अनन्तनाग जिले में स्थित ''ब्राह'' नामक गॉव में 1930 ई0 पू0 में हुआ । दुतविलम्बित छन्द में रचित यह स्तोत्र अतीव श्रुतिमधुर है । इसमें आचार्य ने भगवान कृष्ण की उनके बाल रूप मे दस श्लोकों में प्रशंसा की है । इसका प्रकाशन दिल्ली में सन् 1984 ई0 पू0 में हुआ ।

रामाश्वघटीस्तव :

आचार्यनुसार इस स्तोत्र का निर्माण कांगड़ा में मण्डल में स्थित ''शेराठान'' नामक गांव में 1931 ई0 पू0 में किया गया । इन्होंने इस स्तोत्र भगवान् राम की स्तुति की है, जिसे पढ़ने से सभी

प्रकार की समस्याओं का हल हो जाता है । इस प्रकाशन 'अमृतस्तोत्रसंग्रह'' में 1984 ई0 पू0 में हुआ ।

''प्रभोशम्भो प्रार्थना '' :

आचार्य ने सन् 1933 ई0 पू0 में इस विनययुक्त श्लोक का निर्माण देवीं शक्ति की प्रेरणा से नालागढ़ (हि. प्र.) में किया गया था । यह इतना प्रसिद्ध है कि 1982 ई0 पू0 तक इसका पाँचवां संस्करण भी प्रकाशित हो चुका था ।

सप्तपदीहृदयम् :

ऋषियों के आदर्श के अनुसार ब्राह्म आदि आर्योचित विवाह सप्तपदी की विधि के पूरा हो चुकने पर ही सम्पूर्ण माने जाते हैं । इसलिए विवाह के अनुष्ठान में सप्तपदी परम्परा का बहुत बड़ा महत्व है । इसका निर्माण 1930 ई0 पू0 में किया गया । आचार्य द्वारा इसमें परिवार की भौतिक अभ्युन्नति के लिये क्रमशः अन्न बल, धन-धान्य, सुख, पशुसम्पत्ति, काम-सुखसन्तति और सख्यभाव के परस्पर उपार्जन, वृद्धि, संरक्षण, वितरण आदि के लिये सात प्रगति रूपी प्रयोजनों का, उन प्रयोजनों के अनुकूल वर-वधु की परस्पर प्रतिज्ञाओं का तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए एक साथ भुः भवा, स्वः, महः जनः, तपः और सत्य सात लोकों में क्रम से संक्रमण के संकल्पों का परस्पर संवाद रूप में सुन्दर वर्णन किया गया है । इसका प्रकाशन हिन्दी अनुवाद सहित 1940 ई0 पू0 में

हुआ तदनन्तर हिन्दी टीका और अंग्रेजी अनुवाद के साथ इसका दूसरा संस्करण 1962 ई0 पू0 में भरतपुर में प्रकाशित हुआ ।

आपूपिकेश्वर स्तोत्रम् :

आचार्य ने भरतपुर में हलवाइयों द्वारा निर्मित मन्दिर में शिवलिंग की स्थापना के अवसर पर भगवान् शिव की स्तुति के रूप में यह लघुकाय स्तोत्र 1966 ई0 पू0 में रचा । इसका प्रकाशन 1984 ई0 पू0 में हुआ ।

अवधूताभिवादनम् :

इस स्तोत्र में अधिकतर अवधूतों का ही गुणगान किया गया है । आचार्य ने सन् 1953 ई0 पू0 में इस लघुकाय स्तोत्र का निर्माण किया । इसका प्रकाशन " अमृतस्तोत्रसंग्रह " में दिल्ली में 1953 ई0 पू0 में हुआ ।

स्वाध्यायमहिम स्तोत्रम् :

शिखरिणी छन्द में रचे हुए इक्कीस (21) श्लोकों एवं एक शार्दूलविक्रीड़ित पद्य का संग्रह करके आचार्य महोदय ने सन् 1957 ई0 पू0 में इस स्तोत्र का निर्माण किया । पूज्यवाद आचार्य महोदय

"श्री स्वाध्याय " के प्रत्येक अंक के लिए स्वाध्याय की प्रशंसा में कम से कम एक-एक श्लोक लिखकर भेजा करते थे । इसका प्रकाशन अनुवाद सहित सन् 1962 ई0 में0 जोधपुर निवासी श्री रमानन्द शास्त्री ने किया ।

(घ) राष्ट्रवादीय ग्रन्थ

राष्ट्रलोक : राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थों में "राष्ट्रलोक " का नाम सर्वप्रथम आता है । इस स्तोत्र में राष्ट्र सम्बन्धी आवश्यक विषयों को व्यक्त करके दार्शनिक दृष्टि से उन पर प्रकाश डाला गया है । आचार्य द्वारा इसका निर्माण सन् 1933 ई0 पू0 में किया गया था । इसमें कहा गया है कि राष्ट्रवादी ही आर्य है । आर्य ही शान्ति की स्थापना कर सकते हैं । "राष्ट्र हमारा पिता है, माता है और आचार्य है । "भारत " भारतीयों का है । " स्वातन्त्रय हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है । हम हमेशा के लिए उसके सेवक हैं । हमारा राष्ट्र हमें भोग और मोक्ष दोनों देता है । हम सच्चे राष्ट्रीय हैं । अभारतीय भारत के अतिथि हो सकते हैं, राष्ट्रीय नहीं, हम सदा संक्रान्ति का आदर करते हैं । हमें एसी शान्ति नहीं चाहिए, जो राष्ट्र को परतन्त्र बनाये । राष्ट्रीय राष्ट्र के पुत्र होते हैं, पति नहीं । भारतीय अपने को हिन्दु मानने में गौरव का अनुभव करते हैं । भारतीय आदर्श के विपरीत क्रान्ति किंक्रान्ति है संक्रान्ति नहीं । इस प्रकार "श्री राष्ट्रलोक" परम पवित्र भारतीय आदर्श का एक जीवन

शास्त्र है । इस ग्रन्थ का प्रकाशन क्रमशः 1934, 1947 और 1949 ई0 पू0 में हुआ और इसका भाष्य अप्रकाशित है ।

संक्रांन्ति पञ्चदशी :

यह एक भावपूर्ण खण्ड काव्य है । इस काव्य में राष्ट्रलोक में प्रतिपादित आर्योचित सत् क्रान्ति का अतीव मनोहर, सुन्दर और भावपूर्ण काव्यात्मक वर्णन किया गया है । आचार्य द्वारा इसकी रचना सन् 1946 ई0 पू0 में काश्मीर राज्य के मुजफराबाद नामक पत्तन में की गई । इस राजनीतिपरक ग्रन्थ का प्रकाशन सन् 1970 ई0 पू0 में हुआ ।

राष्ट्रसंजीवन भाष्य :

आचार्य ने इसका निर्माण सन् 1936 ई0 पू0 में सोलन के शिवमन्दिर की धर्मशाला में स्वसंस्थापित "श्री स्वाध्याय सदन " नामक संस्था में किया । यही वह सुविस्तृत संस्कृत भाष्य है, जिसमें आचार्य ने अपने उपर्युक्त "राष्ट्रलोक" कृति की सुन्दर व्याख्या की है । इसमें राष्ट्र सम्बन्धी सभी विषयों पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है, जो कि "राष्ट्र संजीवन भाष्य" के नाम से प्रसिद्ध है । राजनीति सम्बन्धी यह बहुमुल्य कृति अभी अप्रकाशित है ।

(ङ) काव्यपरक ग्रन्थ

अमृतसूक्तिपञ्चाशिका : इस कृति में काले हृदय और शरीरों को सफेद वस्त्रों से ढांपने वाले नेताओं तथा चुनावों में व्यवहार में लाई जाने वाली दूषित पद्धतियों का अतीव रोचक ढंग से वर्णन किया गया है । स्वतन्त्र भारत के शासकों और नेताओं की कुटिल नीतियों का और पारमेश्वरी लीलाओं को अभिव्यक्त करने वाली सुन्दर सूक्तियों का वर्णन किया गया है । इसका निर्माण सन् 1953 ई0 पू0 में हुआ । आचार्य द्वारा समय समय पर लिखी गई धर्म, अर्थ, मोक्ष, पुण्य, पाप, दुर्जनता, ऋतुओं, सज्जनता, उत्सव एवं उपास्य देवताओं आदि के विषय में सूक्तियों में से शिखरणि छन्द में निर्मित पञ्चास सूक्तियों का एक कृति के रूप में संकलन किया गया है । सन् 1953 ई0 पू0 में डा0 बलजिन्नाथ पण्डित ने हिन्दी टीका सहित इसका प्रकाशन किया है ।

संजीवनी दर्शनम् :

यह एक अतीव सुन्दर काव्य है, जिसमें हिमाचल प्रदेश के धार्मिक स्थानों, तीर्थ स्थानों और प्राकृतिक दृष्यों का अतीव मनोहर वर्णन किया गया है । इस काव्य में त्रैयम्बक विद्या की दीक्षा द्वारा मृत्युतुल्याव्याधि से छुटकारा प्राप्त होने की अपने जीवन पर आधारित सत्य घटना का वर्णन किया गया है । इस काव्य का निर्माण कुलगॉव नामक पत्तन से सन् 1962 ई0 पू0 में हुआ और इसका प्रकाशन हिन्दी अनुवाद सहित भरतपुर में 1963 ई0 पू0 में हुआ ।

देशिक दर्शनम् :

आचार्य महोदय ने काश्मीर मण्डल में भगवान दुर्वासा के साक्षात् दर्शनोपरान्त कुलग्राम नामक कस्बे में सन् 1962 ई0 पू0 में इस छोटे से काव्य का निर्माण किया । इसमें भगवान् दुर्वासा के वेशभूषा का, अंगों का और प्रकट होते हुए मनोभावों का सुन्दर वर्णन किया गया है । इस ग्रन्थ का टीका सहित प्रकाशन सन् 1983 ई0 पू0 में हुआ ।

विविध रचनायें :

पिकप्रत्युक्ति : सन् 1928 ई0 पू0 से कुछ वर्ष पहले जब आचार्य महोदय जी अभी एक विद्यार्थी ही थे तब वाराणसी में संस्कृत विद्वानों ने एक कवि गोष्ठी का आयोजन किया था । उस गोष्ठी में सुनाई गई कविताओं को एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया था । आचार्य अमृतवाग्भव जी ने भी उस गोष्ठी में एक कविता सुनाई थी । यद्यपि उस पुस्तिका में केवल बड़े-बड़े विद्वानों की ही कविताओं का प्रकाशन हुआ तथापि एक अतींव मेघावी और सुयोग्य विद्यार्थी होने के कारण से पूज्यवाद आचार्य महोदय जी की कविता को भी उसमें स्थान मिल गया । इनकी यह कविता कोकिल दम्पति के परस्पर संवाद पर लिखी गई है । उसका शिर्षक ''पिकप्रत्युक्ति'' अथवा पिक सन्देश है । यह कविता संभवतः इनकी उपलब्ध कृतियों में सबसे पुरानी कृति है ।

बालाम्बास्तव :

यह पूज्यवाद आचार्य महोदय जी की इष्ट देवी बाला त्रिपुरा का स्तोत्र था जिसे उनके लिखे अनुसार सोलन के महेश वकील ने खो डाला । इसका निर्माण सन् 1929 ई0 पू0 में हुआ था ।

श्रीकृष्णगीतदशकम् :

इस स्तोत्र का निर्माण भी सन् 1929 ई0 पू0 में हुआ था । इस स्तोत्र के दश श्लोक हैं – जिसमें पूज्यवाद आचार्य महोदय ने अपने पिता एवं श्रीकृष्ण की साथ–साथ प्रशंसा की है । आचार्य के अनुसार यह रचना भी इनके शिष्य सोलन निवासी महेश वकील से खो गई थीं ।

वरकलवंशवृत्तम :

इसका निर्माण आचार्य ने सन् 1936 ई0 पू0 में किया । आचार्य अमृतवाग्भव जी जन्म से महाराष्ट्री ब्राह्मण थे उनके वंश का मराठीं नाम "वरकले " था । इन्होंने सन् 1930 ई0 पू0 में अपने पूर्वजों का एक विस्तृत इतिहास "वरकलवंशवृत्तम " इस शीर्षक से लिखा । यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है । यह एक बहुत बड़ा विस्तृत ग्रन्थ है जिसे अधिकांश में अनुष्टुप छन्द में लिखा गया । इसमें कुछ अति प्राचीन विद्वानों का इतिवृत लिखा हुआ है । पिछली और वर्तमान दो शताब्दियों के अनेकों संस्कृत विद्वानों के जीवन चरित्र पर इससे काफी प्रकाश पड़ता है । इस ग्रन्थ

के साथ कई एक परिशिष्ट भी जुड़े हुए हैं । जिनसे आचार्य महोदय जी के निकट सम्बन्धियों अध्यापकों, गुरूओं और मित्रों का परिचय मिलता है । अपने वंश के अनेकों पूर्वजों का इतिहास भी इसमें लिखा गया है । इसे इन्होंने श्रुति परम्परा से हीं सुना था ।

चारूसन्देश :

यह एक छोटी सी कविता है, जिसका निर्माण पूज्यपाद आचार्य महोदय जी ने सन् 1944 ई0 पू0 में लायलपुर (पश्चिमी पंजाब) में किया था । वाराणसी में रहते हुये जब इनका विवाह हो गया तो जगदम्बा की कृपा से स्थितियॉ ऐसी बन गई कि पत्नी के वास्तविक समागम हुए बिना इन्हें घर छोड़कर सन्यासी बनना पड़ा । इस चारूसन्देश को इन्होंने अपनी पत्नी के लिये लिखकर अनुवाद सहित उसे भेद दिया जिसका अनुसरण करके उसकी भी आध्यात्मिक उन्नति हो गई थी ।

कृतघ्न मित्रं प्रतिपत्रम् :

एक महानुभाव ने परम मित्र होते हुए भी एक ऐसा काम किया जिसे आचार्य महोदय जी ने महान विश्वासघात समझा । सन् 1948 ई0 पू0 में इन्होंने उस कृतघ्न मित्र के प्रति एक पत्र लिखा जिसकी रचना श्लोकों में की गई है । इस छोटी सी कविता में उस कृतघ्न मित्र की व्याजस्तुति भी है और स्फुट फटकार भी है । यह कविता इनके कागजों में मिली है और इनकी अपनी कृतियों की

सूची में भी स्फुट फटकार भी है । यह कविता इनके कागजों में मिली है और इनकी अपनी कृतियों की सूची में भी इसका नाम और निर्माण–काल दिए गए हैं । इसका प्रकाशन अभी नहीं हुआ है ।

सुक्ति लहरी :

इस शीर्षक वाला एक और सूक्ति संग्रह पूज्यपाद जी ने सन् 1956 ई0 पू0 में तैयार किया था । ऐसा इनकी लिखी ग्रन्थसूची से विदित् होता है, परन्तु यह संग्रह उनकी पुस्तकों और अन्य कागजों में अभी तक कहीं नहीं मिला । ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि ''श्री स्वाध्याय '' में जो इनकी अनेकों सूक्तियॉ समय–समय पर ''निवेदन'' इस शीर्षक से प्रकाशित होतीं रहीं उन्हीं में से एक और संग्रह का संकलन इन्होंने इस नाम से किया होगा ।

सिद्धमानव दर्शनम् :

सन् 1963 ई0 पू0 में इस रचना का निर्माण हुआ, जिसमें आचार्य के 1930 ई0 पू0 में काश्मीर भ्रमण के बीच श्रीनगर में हरि पर्वत पर स्थित शरिका भगवती के सिद्धपीठ में शिवरूप सिद्ध के दर्शन एवं उस द्वारा बेध–दीक्षा से माया कुण्डलिनी के रहस्य के खुल जाने की घटना पर आधारित दृष्यों का सुन्दर वर्णन है ।

असम्पादित् श्लोक संग्रह :

यह संग्रह अस्त व्यस्त क्रम में है । आचार्य महोदय की एक डायरी में 53 श्लोकों का एक संग्रह मिला जिन्हें सूक्तियों में गिना जा सकता है । हो सकता है कि उक्त "सुक्तिलहरी" इन्हीं श्लोकों का संग्रह हो ।

आत्मपरिचय :

यह भी एक छोटी सी कविता है जिसमें पूज्यपाद जी ने अपने जन्म का परिचय देकर पिछले चार जन्मों का उल्लेख किया है । इस कविता का प्रकाशन अभी नहीं हुआ है । इसके निर्माण काल का निर्देश इन्होंने नहीं किया है । न ही लिखा है कि इसका निर्माण इन्होंने कहां किया ।

(छ) विविध रचनायें :

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त आचार्य महोदय द्वारा समय-समय लिखित, फुटकर श्लोकों, गजलों, जीवन के संस्मरण, प्रशस्तियॉ, धर्म आदि विषयों, हिन्दी लेखों तथा सुदृढ़ शरीर, विचित्र विधान, प्रमाद, मल्लयुवा आदि की हिन्दी कहानियों का वर्णन भी मिलता है । इसलिए इससे सिद्ध होता है कि "अमृतवाग्भव आचार्य जी" न केवल एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, दार्शिनक और विद्वान् व्यक्तित्व ही थे, प्रत्युत् एक महान सफल लेखक भी थे ।

अध्याय – तृतीय

श्रीसिद्धमहारहस्य की सामग्री का अवलोकन

आचार्य अमृतवाग्भव जी का सम्पूर्ण ज्ञान अद्वैत शैव दर्शन की विचारधारा से ओतप्रोत है इसका मुख्य कारण एक ओर तो इस दर्शन के सिद्ध महापुरूष दूर्वासा से ज्ञान प्राप्ति करना है, दूसरे उन्होंने स्वयं भी शाम्भवी साधना के बल से इस दर्शन के तत्त्वों का साक्षात् अनुभव किया था । उनकी रचनाओं सें विशेषकर ''श्री सिद्धमहारहस्यम् '' में इस तथ्य की स्पष्टतः पुष्टि हो जाती है । आचार्य के अनुसार काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन के तत्त्वों का निरूपण इस प्रकार से है :-

परमसत्ता (परमशिव) :- अद्वैत शैव दर्शन के अनुसार ''परमसत्ता'' (परमशिव) शिव और शक्ति अथवा प्रकाश और विमर्श के सामरस्य को माना गया है । सामरस्य दो पृथक् तत्त्वों का नहीं, अपितु एक ही वस्तु के दो पहलुओं में वह समानता, एकरसता अथवा अभेदता का परिचायक है, जो अग्नि और उसकी उष्णता, जल और उसकी शीतलता, पुष्प और उसकी सुगन्धि के मध्य होती है । शिव और शक्ति कभी पृथक् नहीं होते हैं ।[1] काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन में एक मात्र परमशिव की यथार्थ सत्ता मानी गई है । वेदों में भगवान शिव का शम्भू मयोभव, शंकर, पशुपति, शितिकण्ठ , सोम, नीलग्रीव और रूद्र आदि विभिन्न नामों से उल्लेख हुआ है । महाकवि कालिदास भी शिव और शक्ति को शब्द और अर्थ की भांति परस्पर संपृक्त मानते हैं ।[2] आद्य जगद् गुरू शंकराचार्य भी शिव का शक्ति के कारण ही शक्तिमान होना, जगत्-रचना आदि कार्यो में समर्थ होना मानते हैं और शक्ति के बिना शिव की शवता जड़ता स्वीकार करते हैं ।[3]

---

1) न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी । न हिमस्य पृथक्
शैत्यं नाग्नेरोष्ण्यं पृथग्भवेत् ।। (शि. दृ. 3/27)

2) वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ।। (रघु. 1/4)

3) शिवः शक्तया युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् ।
न चेदेनं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।। (सो. ल., 1)

शैव आगमों में इसे ''भैरव'' नाम से और इसकी शक्ति को ''भैरवी'' नाम से अभिहित किया गया है। वह प्रमाता और प्रमेय अथवा ज्ञाता और ज्ञेय-दोनों हैं। शिव अनुभव कर्त्ता भी है और स्वयं अनुभूत पदार्थ भी है, क्योंकि वह अनुभव करने वाला आत्मा तथा अनुभत होने वाला जगत् दोनों हैं। अपने स्वरूप में ही निहित अद्भुत शक्ति के माध्यम से वही स्वयं को ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट करता है तथा विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने पर भी वह अपने यथार्थ स्वरूप से च्युत नहीं होता।[1] शिवदृष्टि, वृति में भी कहा गया है कि परमसत्ता प्रकाशमात्र स्वरूप होते हुये पूर्ण, निरपेक्ष एवं परानन्द स्वरूप है, जो अपनी माया शक्ति के प्रभाव से आत्म-अख्यति करके अतिरिक्त आनन्द की भाँति अर्थात् प्रचुर आनन्द उच्छलता से तत्त्वता को प्राप्त होती है। इस प्रकार उनकी जगत् की रचना की इच्छा ही इसकी अवस्थिति में कारण होती है।[2]

---

1) तस्माच्छब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः।
भोक्तैव योग्य भावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ।। (स्प. का. 2/4)

2) शिवो भगवान् बोधमात्ररूपः पूर्णो निरपेक्षः आनन्दात्मा सदैव।
तथा मायाशक्तिवशात्माख्यातितः आनन्दातिरिक्त इव तत्वतामेति जगन्निर्माणेच्छारूपेण स्थातुम ।।

(शि. दृ. –)

श्रीसिद्धमहारहस्य में अमृतवाग्भव आचार्य का कथन है कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के समूहों से भरे हुए इस समस्त संसार में अपनी विसर्ग शक्ति अर्थात् सृष्टि, स्थिति , संहार आदि की सामर्थ्य से नित्य नए–नए सौन्दर्य के कारण रमण करने के योग्य परमशिव महाबिन्दु में विद्यमान है ।[1] अर्थात् इस संसार के भीतर उत्पन्न होने वाला सब कुछ परमशिव ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है । क्योंकि सम्पूर्ण द्वैतभाव परमेश्वर के सामर्थ्य से कल्पित है ।[2] वह परमशिव सदा ही चित् प्रकाश से प्रकाशित होता रहता है, तभी तो प्रत्येक प्राणी स्वयमेव अपने आपको ''मैं'' इस रूप में जानता है । इस प्रकार से सभी पदार्थों का मूल कारण महागुरू परमशिव ही है और उसी के भीतर सभी पदार्थ सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह रूपी पांच प्रकार से आभासमान प्रपञ्च रूपता को प्राप्त होते रहते हैं । प्रत्येक वस्तु की सत्ता परमेश्वर की सत्ता पर ही अश्रित है । इसी कारण समस्त सद्रूप भावों को भावरूपता देने वाली सत्ता परमेश्वर की ही है । इस तरह से वह महाभाव है ।

---

1) इह खलु नानाविधवस्तुनिचयपरिपूर्णे विश्वस्मिन् विश्वमण्डले निजया नैसर्गिक्या ....परश्विमहाविन्दौ जायमानः (सि. रह. पृ. – 19)

2) ''द्वैतभावस्य हि सर्वस्यापि काल्पनिकत्वात्'' (सि. रह. पृ. – 19)

सृष्टि, स्थिति, संहार,निग्रह और अनुग्रह ये पॉच कृत्य परमेश्वर की परमेश्वरता माने गये हैं। इन्हीं पॉच कृत्यों को परमेश्वर का नैसर्गिक स्वभाव भी कहा गया है। यह (स्वभाव) प्रपंच, माया, अविद्या या वासना के द्वारा उस पर चढ़ाया नहीं गया है। ऐसा सैद्धदर्शन का मानना है। ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, ईश्वर और सदाशिव सृष्टि, स्थिति आदि पांच कृत्यों को करने वाले पांच कारण माने गये हैं। सृष्टि रूपी जो प्रपञ्च है, वह इसलिए विकास को प्राप्त होता है, क्योंकि परमेश्वर अपने-आप को इस रूप में प्रकट करना चाहता है। कहने का भाव यह है कि परमेश्वर की इच्छा शक्ति के द्वारा ही यह सम्पूर्ण संसार विकास को प्राप्त होता है और उसी की इच्छा के अनुसार उसकी लींला का अन्त भी हो जाता है। अतः यह सारे का सारा प्रपञ्च परिपूर्ण आनन्द को अभिव्यक्त करने में लगाः रहता है।[1]

---

1) "सर्वोऽप्ययं प्रपञ्चः पूर्णानन्दायैव कल्पते" (सि. रह. पृष्ट - 22)

अभिनवगुप्त भी कहते हैं कि शास्त्रों में अणु-अणु में परमसत्ता का सर्वरूप एवं एक-एक तत्त्व में भी एकत्र छत्तीस का होना निरूपित है । परमशिव सर्वव्यापक और सर्वस्वरूप है । इस कारण न तो उसका ग्रहण किया जा सकता है और न हीं उसका परित्याग किया जा सकता है । वह सभी का अपना आप है । परमेश्वर ही सनातन अर्थात् पुरातन तथा सदा के लिए विद्यमान रहने वाला तत्त्व है । इससे पृथक् और अतिरिक्त बनीं हुई कोई भी वस्तु प्रतीत नहीं होतीं है, अतः वैसीं कोई वस्तु सत् नहीं है । इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा आदि ''शाकस्वरूप'' है । इन ईश्वरों कीं अपेक्षा परमेश्वर ''महाशाकस्वरूप'' है । इन ईश्वरों कीं ईश्वरतार परिमित है, परन्तु परमशिव रूपीं परमेश्वर कीं ''शाकता'' अर्वथा अपरिमित है । वस्तुतः परमेश्वर (परमशिव) हीं एकमात्र पारमार्थिक सत्य तत्त्व है । शेष सब कुछ जो कि संसार में भासता है, सर्वथा मिथ्या न होकर उसीं के स्वातन्त्रय का विलास है और उसीं कीं स्वाभाविक परमेश्वरता कीं अभिव्यक्तियों का विचित्र दृष्य है ।

---

1) ''तस्यैव शरीरादि-कल्पितप्रमातृपदेऽपि अकल्पिताहविमर्शमय-
सत्यप्रमातृत्वेन स्फुरगात् ।'' (शि. सू. वि., पृ. - 11)

आचार्य के अनुसार परमेश्वर तभी परमेश्वर है, जब उसमें परमेश्वरता है अर्थात् परमेश्वरता उसका आवश्यक और नैसर्गिक स्वभाव माना गया है । प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता की त्रिपुटी को आगम शास्त्रों में क्रम से सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में तीन नाम दिए गये हैं । देवाधिदेव भगवान् शिव अनन्तानन्त रूपों में प्रकट होते हुए इन तीनों पदार्थों के समस्त ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक व्यवहारों का मूलतः सञ्चालन करने वाले माने गए हैं ।

परमशिव आत्मास्वरूप है । भगवान् परमशिव ही अपने-आप को दो रूपों में प्रकट करके स्वात्मस्वरूप बने रहते हुए इस प्रपञ्च को अपने से भिन्न रूप में अनन्त प्रकार के वैचित्या से आभासित करते हैं ।[1]

---

1) स्वात्मानं स्वविलासेन विश्वरूपेण भासयन् ।
नित्योदितः कोऽपि देवो जयत्यात्मा परः शिवः ।। (आ. वि. 2 - 1)

अद्वैतवादी आगमों में भी शिव और आत्मा का तत्त्विक भेद नहीं माना गया है । समस्त पदार्थो में विद्यमान आत्मा ही शिव है । परमार्थतः बाह्या जगत् में ग्राहय और ग्राहकादि भेद नहीं है, विश्वगत अनन्त वैचित्रय रूप में वहीं एक तत्त्व स्फुरित होता रहता है ।[1] भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार एक ही आत्मा (परमसत्ता) के ब्रह्म, परमशिव, परासंवित्, स्वभाव, सोम, पुरूष, भगवान् ,कर्त्ता, बुद्ध और गुरू इत्यादि नाम संज्ञित किये गये हैं । आचार्य के अनुसार इस बात से कोई प्रभाव नहीं पड़ता की व्यक्ति उस परमशिव को किस [3] नाम से सम्बोधित करता है, क्योंकि वास्तव में वह एक ही परमसत्ता या परमशिव है । आचार्य ने आत्मा को चैतन्यस्वरूप माना है जैसा कि शिवसूत्रों विज्ञानभैरव और [4] मृत्युञ्जय तन्त्र आदि में भी कहा गया है ।[2] चैतन्यस्वरूप से तात्पर्य है , जो सर्वज्ञान एवं सर्वक्रियादि करने में स्वतन्त्र हो ।

---

1) श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाकधनस्य..... अखिलं अभेदेनैव स्फुरति । (प्र. भि. हृ. पृ. 13)

2) चैतन्यमात्मा (शि. सू. 1/1)

3) चिद्धर्मा सर्वदेहेषु विशेषो नास्ति कुत्रचित् ।
अतश्च तन्मयं सर्व भावयन् भवजिज्जनः ।। (मृ. तं - 8/28)

4) परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु पठयते ।। (वि. भै. - शलो. 100)

महार्षि पाणिनी ने भी इसे इसी रूप में स्वीकार किया है ।[1] शिवसूत्र विमर्शिनी में भी ऐसा ही कहा गया है ।[2] जब अपनी परमेश्वरता को स्वयं परमेश्वर ने विलास की लीला में आते हुए भुला डाला, तो वह (परमेश्वर) अल्पज्ञ और अल्पशक्ति जीव के रूप में प्रकट हो गया । अतः परमेश्वर ने ही आत्मदेव रूपी जीवों की सृष्टि की है । भगवान् परमशिव ही अपने आपको दो रूपों मे प्रकट करके स्वात्मस्वरूप बने रहते हुए इस प्रपञ्च को अपने से भिन्न रूप में अनन्त प्रकार के वैचित्र्य से आभासित करते हैं । आत्मविलास में भी ऐसा ही कहा गया है ।[3]

---

1) "स्वतन्त्रः कर्ता" । (अष्टा. 1 – 4 – 54)

2) इह अचेतितस्य कस्यापि सत्त्वाभावात्, सर्वज्ञानक्रिया सर्वसामान्यरूप इति, चेतयते इति चेतनः सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः । (शि. सू. वि. – पृष्ठ 11)

3) स्वात्मानं स्वविलासेन विश्वरूपेण भासयन् ।
नित्योदितः कोऽपि देवो जयत्यात्मा परः शिवः ।। (आ. वि. 2 – 1)

शाक महिमा :-

आचार्य ने परमसत्ता को "शाक" शब्द से भी सम्बोधित किया जाना सर्वथा युक्तिसंगत माना है क्योंकि यह प्रत्यक्षतः सामर्थ्य का द्योतक है ।[1] इसके अनुसार जो महापुभाव श्रुति-समृति द्वारा उपदिष्ट पॉच महायज्ञों के द्वारा विश्वेदेवों का यजन करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अन्त में वे भी "शाक" में ही विलीन हो जाते हैं ।[2] तात्पर्य यह है कि पॅच महायज्ञों के द्वारा देवताओं, ऋषियों, पितरों, मनुष्यों और भूतों को तृप्त करने वाले वर्णाश्रम-धर्म के उपासक पितृयान गति से स्वर्ग के सुखों का भोग करते हैं और देवयान गति से उत्तरोत्तर आध्यात्मिक प्रगति करते हुए अन्ततोगत्वा ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं । ब्रह्म का स्वरूप ही समस्त दिव्य शक्तियों का एकधन तत्त्व हैं । उसी दशा को वे प्राप्त हो जाते हैं । कोई साधक ब्रह्मा आदि कारणों का पालन करने वाली, कपाल धारिणी,

1) शाकः काशश्च काशश्च शाको भवति सर्वथा ।
यः काशते स शक्नोति यः शक्नोति स काशते ।। (सि. रह. आह. 3/8)

2) ये पञ्चभिर्महायज्ञैर्यजन्ते विश्वदेवताः ।
पर्यन्ते तेऽपि लीयन्ते शाक एव न संशय : ।। (सि. रह. 5/8)

ककार – लकार सहिता और ककार लकार रहिता, बीजाक्षरमयी भगवती कामकलाकी कलना कुलाचार की युक्ति के द्वारा करते हैं ।[1] अपने ऐश्वर्य से पद पद में ओतप्रोत तथा भाव से चमकता हुआ ''शाकरूप'' परमशिव स्वतन्त्र प्रातिपदिक बनता है ।[2] अर्थात् उसी के द्वारा अन्य सभी जीवों की सृष्टि होती है । सभी शब्द और सभी अर्थ एकमात्र ''शाक'' से भरे हैं । अर्थात् पारमैश्वर्य रूपी सामर्थ्य ही समस्त नामरूपात्मक जगत का भरण पोषण करता हुआ सर्वव्यापकभाव से उन सब में ठहरा हुआ है ।[3]

---

1) सकलां निष्कलां कामकलां केचित् कपालिनीम् ।
कल्यन्ते कुलाचारयुक्त्याा शाकरिरंसया ।। (सि. रह. पृ. – 74)

2) भासमानः प्रतिपदं प्रोत ओतः स्ववैभावत् ।
स्वतन्त्रं प्रातिपादिकं शाक एव भवाम्यहम् ।। (सि. रह. आह. 3/16)

3) शब्दाश्चार्थाश्च सर्वेऽपि शाकेनैकेन पूरिताः ।
तस्मात् सर्व शाक एव महोऽहमिति निश्चितम् ।। (सि. रह. आह. 3/17)

शाकरूप परमशिव ही सभी क्रियाओं का शब्दात्मक विमर्शन करता है तथा सभी धातुओं को धातुरूपता में ठहराता है ।[1] शाकरूप परमेश्वर शाश्वत है, भाव–अभाव रूपी समस्त विश्व को सत्ता प्रदान करने वाला है और तुर्यादशा से भी परे ठहरा हुआ है । वह अपने ही भीतर विश्व को उल्लासित करता हुआ प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय, इस त्रिपुटी की अवस्था को प्राप्त होता है ।[2]

शाकरूप परमशिव वाणी से परे है, फिर भी परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैश्वरी नामक चारों ही वाणियों के द्वारा उसकी महिमा का गुणगान किया जाता है ।[3] एकमात्र 'शाक' ही परमशिव और पराशक्ति दोनों हैं ।[4] शब्द में, अनुमाण में और प्रत्यक्ष में जो प्रमाणता मानी जाती है वह 'सकने' की ही महिमा है । अतः 'सकना' ही परमेश्वर है ।[5]

---

1) धातुभावेन सन्धातुं धातून् सर्वानपि स्फुरन् ।
शाकोऽहमेव शक्नोमि वाचयन् सकलाः क्रियाः ।। (सि. रह. आह. 3/5)

2) अमृतं सर्वजीवातुरतीतस्तुर्यतां मुहुः ।
गाहते त्रिपुटीं स्वस्मिन् शाक उल्लासयन् शिवः ।। (सि. रह. आह. 3 – 22)

3) यः पश्यन्त्या मध्यमया वैश्वर्या वक्ति चोच्यते ।
परया च परो वाचां सोऽहं शाको महाशिवः ।। (सि. रह. आह. 3–23)

4) "शाक एको महादेवो महादेवीच्छतीष्यते" (सि. रह. आह. 3 – 26)

5) शब्देऽनुमाने प्रत्यक्षे प्रामाण्यं यदपीष्यते ।
तत् सर्व शाकमाहात्म्यं तस्माच्छाको महेश्वरः ।। (तदेव 3 – 28)

'शाक ' अर्थात् 'सकना ' ही भीतर और बाहिर अपने प्रकाश का विमर्शन करता है तथा पूर्ण स्वतन्त्र होता हुआ सौन्दर्य और लावण्य को धारण करते हुए विलास बनता रहता है ।[1] शाकरूपी परमशिव प्रत्येक पद में अनेकों बार अपने प्रकाश का विमर्शन करता हुआ अपनी लीला से अनन्त नामों और रूपों को धारण करता है ।[2] महा-प्रकाश एवं पराशक्ति रूपी "शाक " प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता में ओतप्रोत भाव से प्रकाशमान होता रहता है ।[3] सब कुछ "शाक" अर्थात् सकने से ही भरा हुआ है , अतः ' शाकरूपी ' अहम्प्रकाश शाकम्भरी नाम से विख्यात है । वहीं परमशिव है और सभी से उत्कृष्ट है ।[4]

---

1) अन्तर्वहिः शाक एव काशं स्वं विमृशन्नहम् ।
प्रभुर्विलासतामेति लौहितीं लालिनीं वहन् ।। (सि. रह. आह. 3 - 10),

2) पदे पदे शाक एव काशं स्वं विमृशन् मुहुः ।
अनन्तनामरूपाणि दधामि निजलीलया ।। (सि. रह. माह. 3 - 18)

3) मेये माने मातरि च य ओतप्रोतभावतः ।
काशते स महान् काशः शाक एव महेश्वरी ।। (तदेव - 3 - 29)

4) शाकेन भरितं सर्वं शाकरूपमहम्महः ।
शाकम्भरीति विख्यातं शिवं विजयते परम् ।। (तदेव 3 - 31)

शिवदृष्टि और तन्त्रसार में भी शिव की अनन्त शक्तियों का वर्णन मिला है । परमसत्ता की ये अनन्त शक्तियाँ होने पर भी पाञ्च मुख्य शक्तियाँ चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया मानी गई है ।[1] इनमें से भी इच्छा ज्ञान और क्रिया अधिक प्रसिद्ध हैं ।[2] श्रीसिद्धमहारहस्यम् में वर्णन मिलता है कि विश्वसृष्टि आदि अत्युत्तम पारमेश्वरी कृत्यों को करने वाला परमशिव अपने स्वभावरूप से इच्छा, ज्ञान और क्रिया में पूरी तरह से समर्थ है । वह स्पन्दमान् रहता हुआ एक साथ ही समभाव से प्रकाश और विमर्श पर विश्रान्त होता रहता है ।[3] इन पाँचों शक्तियों (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया) का संक्षिप्त विवरण इस तरह है :-

---

1) "आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृतचिद्विभुः ।
अनिरूद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ।। (शि. दृ., 1/2)

2) "इत्येवं मुख्याभि' (पञ्चभिः) शक्तिभिर्युक्तोऽपि वस्तुत इच्छा –
ज्ञान – क्रियाशक्तियुक्तः .... शिवरूपः ।" (त. सा. आह. 4 पृ. 6)

3) समस्मि सुकृती स्वस्यामिष्टौ ज्ञातौ कृतावलम् ।
विमर्शे च प्रकाशे च विश्राम्यामि स्फुरन् समम् ।। (सि. रह. आह. 3/5)

1. चित्शक्ति :- शिव की यह शक्ति प्रकाशरूप,[1] अवभासनात्मक होती है, जिससे वह स्वयं सतत प्रकाशित रहता है, उस समय भी जब शून्य ही शून्य होता है ।[2] प्रकाशरूप आत्मा का इच्छास्फुरण विश्व भी प्रकाश रूप ही है ।[3]

2. आनन्दशक्ति :- परमशिव की पूर्ण आह्लादात्मक और मोदात्मक विमर्शरूप स्वातन्त्र्य शक्ति आनन्द शक्ति कहलाती है ।[4] यह सदैव अपने में सर्वथा सन्तुष्ट होने से पूर्ण विश्रान्तियुक्त होती है एवं अन्य की अपेक्षा नहीं रखती है ।[5] परमेश्वर की यह आनन्दशक्ति क्लेश आदि से रहित होने से अपने शान्त स्वरूप में सदैव ठहरी रहती हुई भी घोरतर और घोरतम स्वरूपों को लेकर के इस सृष्टि, संहार आदि प्रपञ्च के रूप में भी प्रकट होती ही रहती है ।[6] आनन्द शक्ति को स्वातन्त्र्य भी कहा जाता है ।[7] आचार्य ने 'सिद्धमहारहस्यम्' में भी कहा है कि यह सारे का सारा प्रपञ्च परिपूर्ण आनन्द को अभिव्यक्त करने में लगा रहता है ।[8]

---

1) प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः । (तं. सा. आह. 1, पृ. 6)
2) प्रकाशश्च अनन्योन्मुखविमर्शः अहमिति - (ई. प्र. वि. 3 - 1 - 4)
3) प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो - (ई.प्र.भा. 1, 11513))
4) "स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः ।" (तं. सा. आह. 1, पृ. 6)
5) "अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थतः आनन्दः ।" (ई. प्र. वि. भा. 1. पृ. 207)
6) अस्मीतिमात्र - भरिताखिल-विश्व-भवाबोधाभिनन्दन समुच्छलितात्मरूपा ।
शान्तापि घोरतम-स्वरूपैर आभाति सङ्कलित-पञ्चविधप्रपञ्चा ।। (महा. भ. स्तो. श्लोक. 3)
7) "स्वातन्त्र्येम् आनन्दशक्तिः ।" (तं. सा. आह. 1)
8) "सर्वोऽप्ययं प्रपञ्चः पूर्णानन्दायैव कल्पते ।" (सि. रहा. पृ. 22)

3. <u>इच्छा शक्ति</u> :- यह सर्वसामर्थ्यसम्पन्न एवं अप्रतिहत शक्ति है, जिसे देवी चमत्कार भी कहते हैं तथा जिससे करने न करने का ईश्वरीय निश्चय होता है ।[1]

4. <u>ज्ञान शक्ति</u> :- शिव की यह वह सामर्थ्य (शक्ति) है, जिसके द्वारा अपने प्रति एवं परस्पर दूसरों के प्रति सम्बन्ध का अनुभव होता है अर्थात् ज्ञाता-ज्ञेय का ज्ञान होता है ।[2] आचार्य ने 'तन्त्रसार' में वर्णन किया है कि शिव की सिसृक्षा का जब शिव को ज्ञान होता है तो इस अवस्थिति को हीं ज्ञान शक्ति कहते हैं ।''[3]

5. <u>क्रियाशक्ति</u> :- प्रत्येक प्रकार का, कोई भी रूप धारण करने की एवं प्रत्येक कार्य करने की सामर्थ्य को क्रियाशक्ति कहते हैं ।[4] यह समस्त विश्व प्रपञ्च क्रियाशक्ति का ही विकास है ।[5] मालिनीविजयोत्तर वार्तिक में कहा गया है कि परम शिव जिस शक्ति के द्वारा विश्वात्मकभाव से विभिन्न पदार्थो का भेद अवभासन करता है उस ''भासना'' को ही शास्त्रों में क्रिया शक्ति कहा गया है ।[6] शिवसूत्र [7] एवं शिवसूत्र विमर्शनी में भी जगत को परमसत्ता की शक्ति का विकासरूप ही माना गया है ।[8]

---

1) तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः । तं. सा. आह. 1, पृ. 6)
2) ''एवमेतादिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ।।'' (मा. वि. तं., 3/8)
3) ''आमर्शात्मकता ज्ञान शक्तिः ।'' (तं. सा., पृ. - 6)
4) '' सर्वकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः ।'' (तं. सा. आह. 1 पृ. 6)
5) '' क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः । (ई. प्र. वि. भा. 2 पृ. 42)
6) ''भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते ।'' (मा. विज., 1/9-10)
7) स्वशक्तिप्रचोऽस्य विश्वम् । (शि. सू. 3/30)
8) क्रियाशक्तिस्फुरणरूपो विकासो विश्वम् । (शि. सू. वि. पृ. - 196)

छत्तीस तत्त्व : प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्यों ने जगत् रूप में विकसित समस्त प्रमाताओं (चेतन ग्राहकों) का "शिव" से लेकर "सकल" पर्यन्त सात वर्गों एवं सभी प्रमेयों (जगत्निर्मातृ–संघटकों–विषय तत्त्वों) का शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों में विभाजन किया है । छत्तीस तत्त्वों में विभाजन के अतिरिक्त इनका पञ्च–कलाओं एवं अण्डचतुष्टयात्मक रूपों में भी वर्गीकरण किया जाता है । काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार परमशिव का विश्वोत्तीर्णरूप अथवा प्रकाशमय रूप वह रूप है, जिसमें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूप समस्त जगत् ऐक्य रूप से अवस्थित रहता है । उनका विश्वमय अथवा शक्तिमयरूप छत्तीस तत्त्वों के रूप में अभिव्यक्तिकरण मात्र है । अतः सिद्धजन इन तत्त्वों को एकमात्र परमेश्वर के रूप में ही देखते हैं । सिद्धों की यही अद्वैत दृष्टि है ।

सिद्धजन केवल छत्तीस तत्त्वों को ही नहीं, अपितु उनके विकार स्वरूप इस सारे ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अंश को भी परमेश्वर के ही रूप में देखते हैं । सिद्धों की यही अद्वैत दृष्टि है । जिसमें उनको अद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत में सब कुछ एक परमेश्वर ही दिखाई देता है । सृष्टि की अभिव्यक्ति एवं प्रलय का क्रम शिव और शक्ति, प्रकाश और विमर्श का प्रसार और संकोच है । चैतन्य की अभिव्यक्ति के ये विभिन्न रूप "शैव शास्त्रों" में छत्तीस बर्गों या तत्त्वों में वर्णित है । इनकी निश्चित् संख्या के विषय में मतभेद पाया जाता है । अभिनवगुप्त शिव के आध्यात्मिक और भौतिक रूपों के आधार पर तत्त्वों की संख्या सैंतीस बताते हैं । अभिनवगुप्त के अनुसार परमतत्त्व

(परमशिव) हमारी बुद्धि के परे है, अतः उसके विषय में जो कुछ हम समझते हैं, वह हमारी समझ है, परमशिव उससे परे है । क्योंकि शिव और शक्ति तत्त्वों को नित्य अद्वैत तत्त्व माना जाता है । उत्पलाचार्य के अनुसार तत्त्वों की संख्या छत्तीस है । क्षेमराज इत्यादि शैवाचार्यों ने तत्त्वों की संख्या पैंतीस मानी है ।[1] वस्तुतः सदाशिव की अवस्था में ही विश्व का प्रारम्भ होता है ।[2]

आचार्य अमृतवाग्भव जी ने इन तत्त्वों को परमतत्त्व की अभिव्यक्ति माना है । इसलिए मूलतः परमतत्त्व ही हैं । ये तत्त्व सांख्य की तरह विषयात्मक या मनोवैज्ञानिक नहीं हैं । शैव दार्शनिक मानते हैं कि ये तत्त्व सत्य हैं और यौगिक अनुभव द्वारा जाने जा सकते हैं ।

---

1) सदाशिवादे : भूमयन्तस्य । (प्र.हृ.सू.-1, पृ.- 44)
2) श्रीमत्सदाशिवोदारप्रारम्भं वसुधान्तकय ।'' (भा. भा-2, पृ. - 219)

आचार्य ने तत्त्वों की संख्या के मतभेद में न पड़ कर सामान्य रूप से मानी जाने वाली संख्या अर्थात् छत्तीस तत्त्वों को ही माना है । आचार्य के अनुसार शिवतत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक के छत्तीस तत्त्वों के अधिष्ठातृ देवताओं का पूर्णयोग द्वारा जो यजन मुनिजन करते हैं, वह यजन वस्तुतः हमारे 'सकने' (परमशिव) का ही होता है ।[1] अर्थात् सभी तत्त्व और सभी तत्त्वेश्वर देवता परब्रह्म की शक्ति के ही भिन्न-2 रूप हैं । इन तत्त्वों का सामान्य परिचय इस प्रकार से है :-

1. शिव तत्त्व :- परमशिव क़ी अवस्था में विश्व ऐकात्म्य रूप से विद्यमान रहता है, उसे विश्वोत्तीर्ण भाव कहते हैं । परन्तु जब विश्वमय रूप में अवभासित होने के लिए अपनी स्वातन्त्र्य-इच्छा से स्पन्दमान् होते हैं, तो उनका यह भाव आद्य स्पन्द शिवतत्त्व कहलाता है ।[2] वह अपने निषेध व्यापाररूप शक्ति से चिदैक्य की अख्याति कर देते हैं,[3] इस दशा का पर्याय अनाश्रित शिव है ।[4]

---

1) शिवादिक्षितिपर्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वदेवता : ।
यजन्ते पूर्णयोगेन मुनय :शाकमेव न : ।। (सि. रह. आह. 5/21)

2) यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्त्रष्टुम् । पस्पन्दे
स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ।। (षट् . त्रि. त. सन. का. 1, पृ. 1)

3) निषेधव्यापाररूपा । (प. सा. भाष्य., का. 4)

4) श्रीपरमशिवः-चिदैक्याख्यातिमयानाश्रितशिवपर्यायशून्यातिशून्यात्मतया
प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति । (प्र. हृ.पृ.- 30)

शिव निषेध से शिवतत्त्व प्रकाशमात्र ही होता है ।[1] अतः शुद्ध 'अंह' रूप होता है, जिसमें 'अस्मि' की भावना नहीं होती । यह आभास पूर्णतः अभेद भूमि का आभास है ।[2] इस दशा के अनुभावक प्रमाता "शाम्भव " कहे जाते हैं । इनमें मल का आभाव होता है । अतः 'अमल' होते हैं । इस दशा के नियन्त्रक भट्टारक "शिव" होते हैं । इसमें चित्तशंक्ति की प्रधानता होती है । तन्त्रसार के अनुसार पञ्चशक्ति स्वभाव परमशिव में चित् शक्ति का प्रधान्य होने पर वह शिव तत्त्व कहलाता है ।[3] इस शिव तत्त्व का ही अपने से लेकर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त प्रत्येक तत्त्व से अभिन्न रूप में स्फुरण है ।[4]

2. शक्ति तत्त्व :– वास्तव में शिव और शक्ति तत्त्व नित्य और अभिन्न होते हैं, अतः इनकी अभिव्यक्ति शाश्वत एकसाथ रहती है । केवल औपचारिकतावश शक्ति तत्त्व को दूसरा तत्त्व कहा जाता है ।[5]

---

1) अनन्योन्मुखः – अहंप्रत्ययः – (ई. प्र. वि. भा. 2, पृ. 196)
2) शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद्रूपाद्व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव ।। (बोध. पं. श्लो. 3)
3) "चित्प्राधान्ये शिवतत्त्वम् ।" (तं. सा. पृ. – 74)
4) "अखिलम् अभेदनैव स्फुरति" – (प्र. हृ. पृ. – 8)
5) न शिवः शक्तिराहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमर्हिते,
शक्तिशक्तिमतोभेर्दे : शैवे जातु न वर्ण्यते ।। (शि. दृ. 2-3)

काश्मीर शैव दर्शन में कहीं शिवतत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है, तो कहीं–कहीं शक्तितत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है । शैवाचार्य क्षेमराज ने ''पराप्रावेशिका'' में शक्तितत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द बतलाया है ।[1] आचार्य अभिनवगुप्त ने शिवतत्त्व को परमशिव की ''प्रथम तुटि'' तथा शक्ति तत्त्व को परमशिव की ''द्वितीय तुटि'' कहा है ।[2] उत्पलदेव की शिवस्तोत्रावली की टीका में राजानक क्षेमराज ने कहा है कि – शक्ति आनन्द से उच्छलित होकर अपने को अपने ही द्वारा सृष्टि के रूप में प्रकट करती है । समस्त सृष्टि शिव की सृष्टिकल्पना की वाह्य अभिव्यक्ति है ।[3] आचार्य महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी में कहा है कि जब शिव अपने हृदय में (बीजरूपेण) विद्यमान अर्थ तत्त्व को बाहर करने के लिए उनमुख होता है तब वह शक्ति कहलाता है ।[4] श्री अमृतवाग्भव ने भी ''परमाशिवस्तोत्रम्'' में उपर्युक्त शक्ति तत्त्व के रहस्य को सुस्पष्ट करते हुए कहा है कि शिव की शक्ति को ही विमर्श कहा जाता है ।

---

1) ''परमेश्वरस्य प्रथम स्पन्द एवेच्छाशक्तितत्त्वम् ।'' (परा. प्र. पृ.–67)

2) अतएव शिवावेशे द्वितुटि : परिगीयते ।
एक तु सा तुटिस्तत्र पूर्णा शुद्धैव केवलम् ।।
द्वितीया शक्तिरूपैव सर्वज्ञानक्रियात्मिका । (तं. आ. भा.–7 पृ. – 206–207)

3) ''आनन्दोच्छलिता शक्ति : सृजत्यामानमात्मना ।'' (शि. स्त्रो. टी. पृ–112)

4) ''यदास्वहृदयवर्तिनमुक्तरूपमर्थत्वं बहिः कर्तुमुन्मुखो भवति तदाशक्तिरिति व्यवहियते ।'' (महा. म., पृ – 40)

यह अतिविशाल, स्पन्दनशील, निजानन्द से सतत उत्तरङ्गित एवं विलक्षण स्वरूप वाला है ।[1]

3. सदाशिव तत्त्व :- शिव और शक्ति तत्त्व के सतत अभासमान होने के कारण वास्तव में यह प्रथम सृष्टि होती है, जिससे सत् का ज्ञान होता है - अतः इसे सादाख्य तत्त्व भी कहते हैं ।[2] इस दशा के भट्टारक सदाशिव अधिष्ठाता होते हैं और प्रमाताओं का अनुभव "अहं-इदं" होता है, जिसमें (शिव) गौण रहता है अथात् वह अस्फुट "इदं" को अपना ही अंश समझता है ।

आचार्य अमृतवाग्भव जी ने "परमशिवस्तोत्रम्" में शैव सम्मत सदाशिव तत्त्व के स्वरूप को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि परमशिव का जगत् प्रकाशन विषयक तीसरा आभास "सदाशिव" संज्ञित होता है । इस दशा में यद्यपि इदं (विश्व) एवं अहं (चैतन्यात्मा) दोनों का अस्तित्व विद्यमान रहने से प्रमाता को "अहमिदम्" अनुभव होता है । परन्तु इदम् अंश "अन्तरिच्छामात्र होने से अस्फुट एवं अपने स्वरूप से अभिन्न ही प्रतीत होता है ।

---

1) विशालोल्लोललोलाय निजानन्दोर्मिमालिने ।
विलक्षणस्वरूपाय विमर्शय नमो नमः ।। (प. शि. स्तो. श्लोक-7)

2) "सृष्टिक्रमोपदेशादौ प्रथममुचितं तत्सादाख्यं तत्त्वम् ।" (ई. प्र. वि. भा. 2 पृ. 191)

अतः अहन्ता से विश्व (इदं) पूर्णतः आच्छादित रहता है अर्थात् वह विश्व को अपना ही रूप समझता है ।[1] इस अवस्था को भेदाभेद दशा कहते हैं ।

4. ईश्वर तत्त्व :- जिस प्रकार शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्द सदाशिव तत्त्व कहलाता है, उसी प्रकार उसके बहिर्मुख स्पन्द को "ईश्वर तत्त्व " कहते हैं ।[2] प्रसिद्ध माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने ईश्वर तत्त्व की दशा में ज्ञान शक्ति का प्राधान्य होना बतलाया है ।[3] भट्टारक ईश्वर इसके अधिष्ठाता होते हैं, जो माया से अतीत होते हैं एवं परमेश्वर के लीलावश अवतारस्वरूप होते हैं । इस दशा के अनुभवकर्ताओं को मन्त्रेश्वर कहा जाता है । जिनका अनुभव "इदमहम्" होता है । इनमें ज्ञानशक्ति का प्राधान्य रहता है ।[4]

---

1) समाच्छाद्ये दंस्फुरत्तामहन्तास्फुरनात्मना ।
सदाशिवसमाख्याय शिवाय नतिरस्तु में ।। (प. शि. स्तो. श्लोक-8)

2) "ईश्वरो बहिरून्मेषः ।" (ई. प्र. का. 3/3)

3) "ज्ञानशक्ति प्रधान्ये ईश्वर तत्त्वत् ।" (तं. सा. आ.-8, पृ-74)

4) "अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेक : । (प्र. छ. पृ.-12)

5. सद्विद्या तत्व :– ईश्वर तत्त्व के पश्चात् जिस शुद्ध तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, उसे सद्विद्या अथवा शुद्धविद्या तत्त्व से संज्ञित किया जाता है । इस तत्त्व के अधिष्ठाता ''अनन्त भट्टारक'' कहलाते हैं तथा प्रमाता ''मन्त्र'' कहलाते हैं । इसमें ''अहं'' और ''इदं'' दोनों परामर्श समाधृत तुला के पलड़ों के समान एक बराबर होते हैं ।[1] इनका परामर्श ''अहमिदमस्मि'' होता है, जो परापर शुद्ध [2] दृष्टि वाला होने से ''शुद्ध विद्या'' तत्त्व की अभिहित होता है ।[3] यद्यपि दोनों परामर्श एकसम होते हैं , तथापि दोनों की पृथक् विशिष्टता प्रतीत होती है । भेद सार वाला विश्व प्रमेय होता है ।[4]

शुद्धविद्या तत्त्व में क्रिया शक्ति का प्राधान्य होता है ।[5] जिस प्रकार परमशिव का बहिरौन्मुख्य शक्तितत्त्व अभिहित होता है, वैसे हीं सदाशिव और ईश्वर का बहिरौन्मुख्य शुद्धविद्या

---

1) ''सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदं धियोः ।'' (ई. प्र. का. 3/3)

2) ''अत्रापरत्वं भवानामनात्मत्वेन भासनात् ।
परताहन्तयाच्छादात्परापरदशा हि सा ।।'' (ई. प्र. का., 3/5)

3) ''तदेषां यदेवं पारमार्थिक रूपं तत्रैव प्ररूढत्वात्
अहमित्यस्य शुद्धवेदनरूपत्वम् ।।'' (ई. प्र. वि. भा. 2, पृ.–198)

4) ''विद्यापदे श्रीमदनन्तभट्टारकाधिष्ठितो बहुशाखावान्तरभेदभिन्ना
यथाभूता मन्त्राः प्रमातारः तथाभूतमेव भेदैकसारं विश्वमपि
प्रमेयम् ।'' (प्र. हृ., पृ–50)

5) ''क्रिमाशक्ति प्राधान्ये विद्यान्ये विद्या तत्त्वम् '' (तं. सा. आह. 8, पृ.–74)

तत्त्व कहलाता है ।[1] प्रमाताओं को "मन्त्र" के अतिरिक्त "विद्येश्वर" भी कहते हैं । इनमें मायीय मल का आरम्भ हुआ सा प्रतीत होता है ।

महामाया :- विद्या तत्त्व के भीतर कई एक अवान्तर सोपान भी होते हैं । उनमें महामाया तत्त्व का स्थान शुद्धविद्या तत्त्व से कुछ नीचे और तिरोधान करने वाली माया से कुछ ऊपर माना जाता है । इसमें विज्ञानकल (विज्ञानकेवली) प्रमाता होते हैं, जो कर्तृता से शून्य होते हैं और शुद्ध बोधरूप होते हैं । उसी प्रकार उनसे अभिन्न तथा पूर्व दशा में परिचित सकल और प्रलयाकल उनके प्रमेय होते हैं ।[2] "अहं " और "इदं " दोनों में ऐक्य की प्रतीति होती है । इदनका परामर्श "अहं-अहं-इदं-इदं" होता है एवं इनमें क्रियाशक्ति की प्रधानता होती है । अद्वैत शैवों ने इस अवस्था को सांख्य पुरूष

---

1) "यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकघनमैश्वर्यं तथापि तस्य यथा बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वं तथा सदाशिवेश्वरयोरपि विद्यातत्त्वम् ।" (तं. आ. वि., भा. 6, पृ. 50-51)

2) "मायोर्ध्वे यादृशा विज्ञानाकला : कर्तृताशून्यशुद्धबोधात्मान :, तादृगेव तदभेदसारं सकलप्रलयाकलात्मकपूर्वावस्थापरिचितम् एषां प्रमेयम् ।" (प्र. हृ., पृ -50)

और शून्यब्रह्मवाद के समान बताया है ।[1] इस दशा में मात्र भेद का उल्लास होता है – अतः यह माया से भिन्न है एवं शुद्धविद्या से भी इसका यही भेद है ।

6. माया तत्त्व :- माया परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति है, जो भेद का अनुभव अवभासति करने से मायाशक्ति कहलाती है ।[2] परमेश्वर अपने प्रकाशस्वरूप के आच्छादन की क्रीड़ा करते हुए इस माया तत्त्व का अवभासन करते हैं ।[3] माया की दो मुख्य शक्तियां मानी गयी हैं – परानिशा एवं विमोहिनी । परानिशा भेदाभिव्यक्ति [4] का तथा विमोहिनी स्वस्वरूपावरण का कारण है ।[5] माया का मुख्य कार्य ज्ञाता और ज्ञेय के अबाधित परमार्थ स्वरूप की अनुभूति में संकोच करके उसे बाधित (सीमित) करना है अर्थात् पूर्ण स्वरूप को आवृत्त करके भेद बुद्धि उत्पन्न करना है, जिससे वह स्वत्व को भूलकर शरीरादि से तादात्म्य करने से सुप्त – सा

---

1) ''शुद्धबोधानां..... ते च सांख्यपुरुषप्राया विज्ञानाकला उच्यन्ते ।'' (ई.प्र.का.वृ.पृ.65–66)

2) ''परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णताप्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति मायाशक्तिःउच्यते ।'' (तं. आ. भा.–8, पृ 13/103)

3) देवः स्वतंत्रचिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः ।
रूपप्रच्छादनक्रीड़ायोगादणुनेककः ।। (तं. आ. भा–6, पृ– 150, 151)

4) आद्यो भेदावभासो यो विभांगमनुपेयिवान् ।
गर्भीकृतानन्तभाविविभासा सा परा निशा ।। (तं. आ. भा – 6, पृ – 150,151)

5) ''माया विमोहिनी नाम'' । (वि. भै., पृ – 95)

(अणु) हो जाता है ।[1] परमशिव की इच्छा से ही इस माया तत्त्व की सृष्टि होती है । अतः इस माया तत्त्व को भी परमेश्वरेच्छात्मक ही माना जाता है । यह एक वस्तुभूत तत्त्व है । तभी तो आगे समस्त प्रकृति, पुरूष, कञ्चुक आदि तत्त्वों का उपादन कारण बनता है ।[2] माया से युक्त अणु (जीव) चित्त प्रधान होता है ।[3] माया को परानिशा भी कहते हैं ।[4] माया मोक्ष–इच्छुक जीवों को संसार में फंसाकर भ्रमाती है ।[5]

आचार्य के अनुसार विश्व परमशिव से अभिन्न है, परन्तु इस माया तत्त्व के प्रभाववश ही यह भिन्न–भिन्न रूपों में भासित होता है ।[6]

---

1) ''सुप्तस्थानीयमणुम्'' (तं. सा. आह. 8)

(ख) ''भेदे त्वेकरसे भाते ऽहन्तयानात्मनीक्षिते ।
शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते ।'' (ई. प्र. का. 3/8)

2) तस्य च सृजतः परमेश्वरेच्छामयं, तत एव च नित्यं, स्रक्ष्यमाणवस्तुगतस्य रूपस्य जड़तयाभासयिष्यमाणत्वाज्जड़ं, सकलकार्यव्यापनादिरूपत्वाच्च व्यापकं मायामयं तत्त्वम् उपादानकारणम् । (तं. सा. पृ. 77)

3) ''चित्त्मेव तु मायाप्रमातुः स्वरूपं-तन्मयो मायाप्रमाता ।'' (प्र. ह. सू. 6, पृ- 56)

4) ''आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान् ।
गर्भी कृतानन्तभाविविभासा सा परा निशा ।'' (तं. आ. भा. 69/150,151)

5) ''भ्रमत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया '' – (स्वच्छ. तं. 10 : 1141)

6) विश्वमात्माभिन्नमपि भिन्नरूपतयायया ।
प्रतीयते सदा तस्यै मायायै नतिरस्तु में ।। (प. शि. स्तो. श्लोक – 11)

पंच कंचुक :-

माया से क्रमशः कला, विद्या, राग, काल और नियति तत्त्वों का विकास होता है, जिन्हें स्वरूप आवृत करने के स्वभाव के कारण आवरण अथवा कञ्चुक कहते हैं । अकेले में पञ्च - कञ्चुक अथवा माया सहित षट - कञ्चुक कहे जाते हैं । ये तत्त्व परिमित शक्तियाँ ही होते हैं, जिनसे युक्त हुआ प्रमाता भी परिमित स्वरूप हो जाता है - अतः ये जीव के बन्धन का पाश कहे जाते हैं ।[1] कला तत्त्व माया का प्रथम उत्पादन है । कहीं कहीं काल को भी प्रथम कंचुक कहा गया है ।

7. कला तत्त्व :- परमेश्वर का परमार्थ स्वरूप गुप्त होने पर एवं अणु बनने पर - जिसके द्वारा उसका सर्वकर्तृत्व संकुचित होकर किञ्चित्कर्तृत्व में परिणत हो जाता है, उसे कला तत्त्व कहते हैं ।[2] कला से ही प्रधान (प्रकृति) की उत्पत्ति होती है ।[3] कला माया का कार्य तथा विद्यादि का कारण भी है । अर्थात् अग्रिम, विद्या, राग, काल आदि चार तत्त्वों की उत्पत्ति कला से होती है ।

---

1) "कलाविद्यारागकालनियतिर्बन्ध उच्यते ।" (अनु. प्र. पं., श्लो. 16)

2) "तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थमात्रपर ।
किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ।।" (षट्. त्रि. तं. सं.श्लो - 8)

3) "वेद्यमात्रं स्फुटमफ भिन्नं प्रधानं सूयते कला" (तं. आ. आह.-9, पृ. 177)

8. विद्या तत्त्व :- परमेश्वर का जिसके द्वारा सर्वज्ञत्व परिच्छिन्न होकर किञ्चित्ज्ञत्व में परिवर्तित हो जाता है – वह विद्या तत्त्व कहा जाता है ।[1] संकुचित ज्ञानरूपी इस विद्या को अशुद्ध विद्या भी कहते है । यह पुरूषों में विवेक शक्ति के रूप में स्थित है एवं उसमें प्रतिबिम्बित विषयों की अनुभूति करातीं है । आचार्य ने विद्यातत्व के सम्बन्ध में कहा है कि परमशिव की सर्वज्ञातृत्व शक्ति का संकोच हीं विद्या तत्त्व कहा जाता है । इससे अणु प्रमाता असमार्थता का अनुभव करता है ।[2]

---

1) ''सर्वज्ञा तस्य शक्तिः परिमिततनुरल्प वेद्यमात्रपरा ।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराधैः ।।'' (षट. त्रिं. तं. सं., श्लो. 9)

2) किञ्चिज्ज्ञातुं समर्थ यः करोत्यज्ञमणुं किल ।
तस्मा अशुद्धविद्याख्यशिवाय नमनं मम ।। (प. शि. स्तो., श्लो. – 16)

9. राग तत्व :- जिसके प्रभाव से पूर्णतृप्ति (पूर्णत्व) परिमित हो जाती है और वह सीमित भागों में आसक्त हो जाता है – राग तत्त्व अभिहित होता है ।[1] यह बुद्धि के धर्म ''स्थूल राग'' से सूक्ष्मतर है ।[2] आचार्य अमृतवाग्भव जी ने भी ''परमशिवस्तोत्रम्'' में राग के विषय में कहा है कि – यह अणु की कला एवं विद्या के क्षेत्र को और भी सीमित करने वाला तत्त्व है । इसके प्रभाव से परमशिव की दशा वाला पूर्णत्व किसी एक विषय की असक्ति तक ही सीमित हो जाता है ।[3]

10. काल तत्त्व :- परमेश्वर के नित्य स्वरूप का संकुचित होकर भूत, वर्तमान और भविष्यत् में परिच्छिन्न हो जाना काल तत्त्व कहलाता है ।[4]

---

1) रागेऽपि रंजयत्येन स्वभोगेष्वशुचिष्वपि । (मा. वि. तं. – 1 पृ. – 28)
2) ई. प्र. वि., भा. 2, पृ. – 209
3) येन प्रीतिरणोः कस्मिन्नेकस्मिन्नववस्तुनि ।
जायते शिवरूपाय तस्मै रागाय में नतिः ।। (प. शि.स्तो., श्लो.– 15)
(प्र. हृ, पृ. 66)
4) द्रष्टव्यं –

इसके द्वारा ही अक्रम स्वरूप में क्रमता का अवभास होता है ।[1] प्रमाता की क्रमरूपता के आभास

का कारण बना हुआ उसका संकोच कालतत्त्व कहलाता है । यह पौर्वापर्य का क्रम ही काल [2] और

इसकी प्रकाशिका कालशक्ति कहलाती है ।[3]

आचार्य के अनुसार संवित् स्वरूप प्रमाता सर्वथा अभिन्न एवं अकालकलित होता है । परन्तु

माया के प्रभाव के कारण जब वह वस्तुओं की कलना क्रम से करने लगता है, तो उसकी इस प्रक्रिया

को काल तत्वाधीन कहा जाता है । अतः शिव की अक्रमिकता में देश-काल रूपी क्रामिकता का

होना ही काल तत्त्व कहा जाता है ।[4]

---

1) ई. प्र. वि. भा. 2, पृ. 208) (ई. प्र. वि. भा. 2, पृ. 9)

2) ''क्रम एव कालो ।''
एवं (ई. प्र. का. 2/3)
क्रम एव स (कालः) तत्त्वतः ।''

3) ''सेयत् इत्थंभूताभासवैचित्र्यप्रथनशक्तिः भगवतः (ई. प्र. वि. भा. 2, पृ. – 13)
कालशक्तिः इत्युच्यते ।''

4) अनक्रमेण भावनां कलनं येन जायते । (प. शि. स्तो., श्लो. – 12)
तस्मै कालसमाख्याय शिवाय गुरवे नमः ।।

11. नियति तत्त्व :- परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का संकुचित होकर विशिष्ट कार्य के लिये विशिष्ट कारण का नियम धारण करना एवं व्यापकत्व का परिमित होकर किसी विशिष्ट देश में परिच्छिन्न हो जाना - नियति तत्त्व कहलाता है । यह नियामिका है और इसके नियमों के अनुसार ही पुरूष में वस्तु विशेष के प्रति राग उदय होता है ।[1] यह राग पुनः विद्या एवं कला का नियामक है ।[2] अन्तःकरण भूमिका में और शरीर भूमिका में तो नियति के नियमों द्वारा प्राणियों का ज्ञान सामर्थ्य और क्रिया सामर्थ्य पद - पद पर बाधित होता हुआ अतीव संकुचित हो जाया करता है । इस तरह से नियति मायीय प्रमाता के स्वातन्त्र्य का बहुत अधिक अपहरण करती है । ब्रह्मा आदि देवाधिदेव भी नियति के घोर बन्धन में पड़े रहते हैं, साधारण प्राणियों की बात ही क्या ।

---

1) ''नियतिः ममेदं कर्त्तव्यं इतिनियमनहेतुः ।'' (परा. प्रा. पृ. 9)

2) ई. प्र. वि., भा. 2, पृ - 209)

आचार्य के अनुसार कर्म-समूहों के विषय में जिस तत्त्व के द्वारा यह नियम ठहराया जाता है कि अमुक कर्म करने के योग्य है और अमुक कर्म करने के योग्य नहीं है उसे नियति तत्त्व कहते हैं ।[1]

12. पुरूष तत्त्व :- माया एवं उसके पाञ्च कञ्चुकों से आबद्ध चिदात्मा पुरूष अणु, जीव, पुमान् , पशु मितात्मा? पुद्गल आदि विविध नामों से अभिहित होता है ।[2] शिव जब कंचुकों सहित माया को स्वीकार कर लेता है, तब उसका सार्वभौम ज्ञान और ऐश्वर्य संकुचित हो जाता है और वह पुरूष अथवा एक परिमित व्यक्ति बन जाता है । शून्य भी इसी का नाम है । इस प्रपञ्च के विकास की अवस्था में यह पुरूष कहीं शून्य को, कहीं प्राण को, कहीं अन्तःकरण को और कहीं स्थूल शरीर को अपना आप अर्थात् ''अहं '' समझता है ।[3]

---

1) कृत्याकृत्यातया येन कृत्यजातं नियम्यते । (प. शि. स्तो., श्लो.-13)
तस्मै नियतिरूपाय शिवाय नमनं मम ।। (अनु. प्र. पं., श्लो.-32)

2) ''मायागृहीतसंकोचः शिवः पुस्तत्त्वमुच्यते ।''
एवं
''इदमेव च पञ्चविंशं पुंस्तत्त्वमित्युच्यते, यत् श्रीपूर्वशास्त्रेषु पुमानिति, अणुरिति, पुद्गलमिति चोक्तम् ।'' (तं. आ. वि., भा. 6, पृ. 165)

3) चित्तत्वं मायया हित्वा भिन्न एवावभाति यः ।
देहे बुद्धावथ प्राणे कल्पिते नभसीव वा ।
प्रमातृत्वेनाहमिति विमर्शोऽन्यव्यपोहनात् ।
विकल्प एव स परप्रतियोग्भवभासज ः ।। (ई. प्र. 1-6-4, 5)

आचार्य अमृतवाग्भव जी ने "श्रीपरमशिवस्तोत्रम्" में माया को शिव की अभिन्न शक्ति माना है । परन्तु उनके अनुसार अपनी इच्छा से जब उसके द्वारा अपने सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्वरूपी ऐश्वर्य को छुपा देते हैं, तो उनकी उस अवस्था को पुरूष तत्त्व कहा जाता है ।[1]

13. प्रकृति तत्त्व :- शुद्ध विद्या की सार्वभौम दशा का परिच्छिन्न अनुभव ही पुरूष एवं प्रकृति होता है । ये दोनों तत्त्व एक साथ ही अवभासित होते हैं ।[2] माया प्रमाता का जो सामान्य आकार केवल मात्र "इदं" इतने ही रूप में अवभासित होता हुआ प्रमेय तत्त्व होता है, उसे प्रकृति तत्त्व कहते हैं ।[3] समस्त विश्व इस "इदं" मात्र में उस तरह से विद्यमान रहता है जिस तरह से मोर के पंखों के सभी विचित्र वर्ण उसके अण्डे के एक वर्ण वाले रस के भीतर समरस भाव से विद्यमान रहते हैं ।

---

1) माययात्माऽभिन्नयैव स्वसामर्थ्यं पिधाय तु ।
पुरूषाख्यामश्नुवानं शिवं वन्दे विलासिनम् ।। (पं. शि. स्तो., श्लो.-17)

2) "सममेव हि योग्यं भोक्तारं च प्रसूयते ।" (तं. आ. भा. 6, 9/285)

3) कलोद्दलितमेतच्च चित्तत्त्वं कर्तृतामयम् ।
अचिद्रूपस्य शून्यदेर्मितं गुणतया स्थितम् ।। (ई. प्र. 2-2-11)

यह ''इदं'' समस्त ब्रह्माण्ड का एकमात्र सामान्य आकार होता है। प्रकृति को कला का वेद्यरूप कार्य भी कहा जाता है।[1] यह सुख – दुःख एवं मोहात्मक की सृष्टि करने वाले सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों की साम्यावस्था होती है।[2] प्रत्येक पुरूष के लिये भिन्न – भिन्न होने से प्रकृति असंख्य मानी गई है।[3] शून्यादि प्रमाता के अपने से व्यतिरिक्त वेद्यमात्र रूप वाले प्रकृतितत्त्व से कार्य और कारण भाव से तेईस (23) प्रकार के प्रमेयों का विकास होता है।[4]

श्रीअमृतवाग्भवाचार्य के अनुसार जो महत् तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक के समस्त तत्त्वों का उपादान कारण और तीन गुणों की साम्यावस्था है, उसे प्रकृति तत्त्व कहते हैं।[5]

---

1) ''वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं (प्रकृतिं) सूयते कला।'' (तं. आ., आह. 9/214)

2) ''तावदेष एव सुख – दुख – मोहात्मक – भोग्यविशेषापुस्यूतस्य सामान्यमात्रस्य तद्गुणसामान्यापरनाम्नः प्रकृतितत्त्वस्य सर्ग:।'' (तं. सा. पृ. 83)

(तं. आ. वि. भा.6 पृ 171,172)

3) ''तच्च (प्रकृतिः) भिन्नं प्रतिपुंनियतत्वादनेकमिति।''

4) ''त्रयोविंशतिधा मेयं चत्कार्यकरणात्मकम्। तस्याविभागरूप्येकं प्रधानं मूलकारणम्॥ (ई. प्र. का. 3/10)

5) महदादिपृथिव्यन्त – तत्वोपादान – कारणम्। गुणत्रयोसाम्यस्वरूपं प्रकृत्याख्यं शिवं नुमः॥ (प. शि. स्तो. श्लो. – 18)

14. बुद्धि तत्त्व :- जव पुरूष प्रकृति मुं अपनी प्रथम चेतना का अनुभव करता है, तो ऐसा अनुभव बुद्धि तत्त्व कहलाता है, जिसे सत्तामात्र की प्रतीति होती है ।[1] यह प्रकृति के सत्त्व गुण का विकास होता है और इसमें शान्त, अह्लादात्मक प्रकाश होता है । बुद्धि इस स्थूल सृष्टि में पुरूष के शरीर के अन्तः अर्थात् भीतर रहकर ही काम करती है । अतः इसे अन्तःकरण भी कहते हैं । बुद्धि निश्चयात्मिका होती है ।[2] आचार्य अमृतवाग्भव जी ने भी बुद्धि तत्त्व के विषय में ऐसा ही कहा है ।[3]

15. अहंकार तत्त्व :- अहंकार की उत्पत्ति बुद्धि तत्त्व से होती है । इसके द्वारा अहं की प्रतीति होती है एवं यह सभी प्रमेयों से तादात्म्य स्थापित करता है, जिससे वे अपने माने जाते हैं ।[4] विषय के प्रतिबिम्ब के सविकल्प या निर्विकल्प आभास को जीव के साथ सम्बद्ध करने वाली शक्ति अहंकार कहलाती है । अहंकार महत् का परिणाम है एवं इसमें रजस् गुण की प्रधानता होती है ।[5]

---

1) ''सत्तामात्रे महति आत्मनि ।'' यो. भा. 2 – 19, पृ. 76
2) ''ज्ञानमपि सत्त्वरूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धिः ।'' (तं. सा., 15)
3) सत्त्वमुख्या विकल्पस्य प्रतिबिम्बं निर्भति या ।
निश्चिनोति च या ज्ञानं वन्दे तां बुद्धिदेवताम् ।। (प. शि. स्तो., श्लो.–21)
4) ''ग्राह्य – ग्राहकाभिमानरूपोऽहंकारः ।'' (ई. प्र. वि. 3/1/11)
5) ''इच्छास्य रजोरूपाहंकृतिरासीदहंप्रतीतिकरी ।'' (तं. सा., 14)

''यह मेरा है '', ''यह मेरा नहीं है '' इस प्रकार के अभिमान का साधन अहंकार तत्त्व है ।

16. **मन तत्त्व :-** अहंकार से मन उत्पन्न होता है । यह क्रिया प्रधान, संकल्प - विकल्पशील, तमो गुण रूप होता है ।[1] यह इन्द्रियों को ठोस चित्र बनाकर देता है । यह इच्छाओं का घर और उभयेन्द्रिय है ।[2]

बुद्धि, अहंकार और मन - अपने अस्तित्व में रहकर सतत कार्य करते हैं और इन तीनों का समूह अन्तःकरण अभिहित होता है । अहंकार से मन के साथ-साथ पाञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पाञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा पाञ्च तन्मात्रायें भी अभिव्यक्त होती हैं ।

---

1) ''तस्य क्रिया तमोमयमूर्तिमन उच्यते विकल्पकारी ।'' (तं. सा., 15)

2) ''अभयात्मकं मनः ।'' (सां. द., 2-26, 27)

17 तः 21 ज्ञानेन्द्रियाँ (बुद्धीन्द्रियाँ) :- जब मन में विषयों के ज्ञान करने की इच्छा होती है, तो उनकी ग्राहक इन्द्रियाँ की उत्पत्ति हो जाती है, जिन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा बुद्धिन्द्रियाँ सम्बोधित किया जाता है । ये क्रमशः श्रवणेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय हैं, जिनसे क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ग्रहण होता है ।

22 तः 26 कर्मेन्द्रियाँ :- वस्तु ग्रहण के पश्चात् उसके विसर्जनादि की प्रक्रिया होनी आवश्यक है । अतः इसकी अपेक्षा से तत् – तत् इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है, जिन्हें कर्मेन्द्रियाँ कहा जाता है । ये क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन्द्रियाँ होती है जिनसे क्रमशः बोलना ग्रहणकरना, चलना, विसर्जन एवं जनन अथवा आनन्दोत्पादन की क्रियायें सम्पन्न होतीं हैं ।

27 तः 36 तन्मात्रायें :- इन इन्द्रियों से सम्बन्धित प्रमेय ''तन्मात्रा'' कहलाता है, जिससे अभिप्राय है – उतना ही । ये सामान्य (सूक्ष्म) गुणों से युक्त होतीं है । यह क्रमशः शब्द तन्मात्रा स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा कहलाती है । इनमें भेदक गुण नहीं होते हैं ।

अध्याय – चतुर्थ

आचार्य अमृतवाग्भव के अनुसार

सैद्ध योग

1) नादयोग :-

'श्रीसिद्धमहारहस्व्यम्' में श्रीमदअमृतवाग्भवाचार्य ने जिस योग विशेष का निरूपन किया है, उसको उन्होंने सिद्धों द्वारा अनुसरित होने से 'सैद्धयोग' संबोधित किया है । जिस नाद योग का विशेषतः उन्होंने उल्लेख किया है, उसको नादयोग के अतिरिक्त ध्वनियोग एवं वर्णयोग भी कहा जाता है । शंकराचार्य ने योगतारावली में इसे 'नादानुसंधानयोग' कहा है । सिद्ध गोरखनाथ की परम्परा एवं योग ग्रन्थों में भी इसे इसी नाम से स्मर्ण किया गया है । भक्तिकाल के कबीर, गुरुनानक, रविदास, मीरां, तुलसीदास आदि सन्तों ने इसे 'सुरति शब्द' योग नाम से अभिहित किया है । अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में इसके सम्बन्ध में कहा है कि प्राण के उच्चार से एक अव्यक्त ध्वनि का सतत स्फुरण होता है, जिसको 'ध्वनिवर्ण' कहते है ।[1] इस नादात्मक वर्ण में सभी प्रकार के वर्ण अभिव्यक्त रूप में रहते हैं । चूंकि यह शास्वत् और अकृत्म, अकृत्रम तथा स्वाभाविक रूप वाला है, इसलिए इसे 'अनाहतनाद' भी कहते हैं ।[2]

---

1) उक्तो य एष उच्चारस्तत योऽसौ स्फुरन् स्थितः ।
अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते ।। (तं. आ. 2 - 131)

2) एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णविभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत होदितः ।। (तं. आ., 6/216)

स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है कि इस अनाहदनाद को कोई उच्चारित नहीं करता है और न ही किसी से यह उत्पन्न होता है । सभी प्राणियों के हृदय में यह स्वयं ही स्फुरित होता रहता है ।[1]

नदयोग की विधि :- आचार्य अमृत्वाग्भव जी के अनुसार इस प्राचीन महान् योग के करने से आत्म स्वरूप की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है । यह नादयोग गुफा आदि एकान्त और निःशब्द स्थान में अपनी दो तर्जनियों के द्वारा अपने दोनों कर्णछिद्रों को बन्द करके किया जाता है ।[2]

'योगप्रदीपिका ' में श्रीस्वात्माराम योगी ने ' नादयोग ' पर विस्तृत प्रकाश डाला है । उनके अनुसार यह नाद साधन विक्षिप्तचित मूर्खों के लिए भी चित्त को समाहित करने में विशेष उपयोगी है ।[3] बहुत ही सरल साधन होने से सर्व साधारण अभ्यासी भी इसके अभ्यास से मन की एकाग्रता पा सकते हैं । नादयोग की चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं –

---

1) नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते । (तं. आ. वि. पृ.-149)
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ।।

2) पिधान कर्णकुहरे तर्जनीभ्यां गुहादिषु । (सि. रह. आह. 6/2)
नादयोगेन सेवन्ते मुनयः शाकमेव नः ।। (यो. प्र. पृ.-65 श्लो. - 65)

3) अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि सम्मतम् ।

आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्त्यवस्था ।[1]

1) <u>आरम्भावस्था</u> :- इन चारों अवस्थाओं में आरम्भावस्था को प्रथम कहा जाता है । प्राणायाम के अभ्यास से जब 'हृदय देश के समीपस्थ अनाहत चक्र ' में वर्तमान ब्रह्मगन्थि का भेदन हो जाता है । तब वहाँ पर चित्त को स्थित करने से शरीर के भीतर हृदयरूप आकाश से आनन्दप्रद आभूषणों की सी विचित्र ध्वनि सुनाई देती है, जिस के श्रवण से मन स्थित होने लगता है ।[2]

जिस अभ्यासी को हृदय आकाश से आनन्दप्रद ध्वनि श्रवण होने लगती है, वह अभ्यास के दृढ़भूमि होने पर उत्तमदेह, सुन्दरगन्ध तेजस्वी, स्वस्थ योगी हो जाता है । इस अवस्था को आरम्भावस्था करते हैं ।[3]

2) <u>घटावस्ता</u> :- नाद श्रवण के उपरान्त चित्त की एकाग्रता के परिणामस्वरूप द्वितीय स्थिति का नाम घटावस्था है । जब विशेष प्राणायाम एवं नाद श्रवण से अभ्यासी के, प्राणवायु, अपानवाय,

---

1) आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पतिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ।। (यो. प्र. 4/49)

2) ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद् भेदोह्यानन्दः शून्यसम्भवः ।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहत्तः श्रूये ध्वनिः ।। (यो. प्र. 4/7)

3) दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान् भवेत ।। (यो. प्र. 4/71)

अभ्यासी के, प्राणवायु, अपानवायु, वीर्य और चित्त समानचेष्टा हो जाते हैं तथा सुषुम्ना मार्ग से प्राणगति होने लगती है वह 'घटावस्था ' होती है । जो अभ्यासी घटावस्था को प्राप्त कर लेता है । वह स्थिर – आसन, विवेकी देवसदृश मेघावी हो जाता है ।[1]

3. <u>परिचयावस्था</u> :- जब प्राणवायु सुषुम्ना मार्ग से भृकुटी में पहुँच जाती है तथा मन भी समाहित हो जाता है । तब सम्प्रज्ञात् समाधि का भृकुटी स्थान में ही परिचय होने लगता है । भृकुटी में प्राण और चित्त के समाहित होने पर जो स्थिति बनती है, वह परिचयावस्था कहलाती है । उस अवस्था में अनेक प्रकार के शब्द श्रवण होते हैं तथा अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं ।[2]

4. <u>निष्पत्त्यवस्था</u> :- कुछ योगी भृकुटी को ईश्वर का स्थान मानते हैं । जब भृकुटी ध्यान करते हुए प्राणवायु भी वहाँ चली जाती है तब ''रूद्रग्रन्थि '' का भेदन माना जाता है ।

---

1) द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ।। (यो. प्र. 4/72)

2) तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ।
महाशून्य तदायाति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ।। (यो. प्र. 4/74)

जिस अवस्था में प्राणवायु भृकटी से ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में चली जाती है, उस अवस्था को निष्पत्त्यवस्था कहते हैं । निष्पत्त्यवस्था में बॉस की वीणा के तुल्य शब्द होता है ।[1]

इन चारों साधनों के अभ्यास से जब चित्त समाहित हो जाता है, जब पातञ्जल राजयोग के अन्तरङ्ग साधन धारणा, ध्यान और समाधि की योग्यता हो जाती है । समाधि में जब चित्तधर्मों से पृथक् आत्मा को अनुभव कर लिया जाता है, तब चेतना, विशुद्धता और नित्यता गुणों से जीवात्मा स्वस्वरूप को, सृष्टि के पालक और संहारक योगीश्वर परमात्मा के समान ही सजातीय मानने लग जाता है । उस समय बैषयिक संस्कारों का पर्यवसान हो जाता है ।[2] भगवान् गौतम आचार्य के ''युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम् '' इस मनोलक्षण के अनुसार किसी एक पदार्थ में चित्त के लगने पर अन्य पदार्थ की ओर चित्तवृति नहीं जाती है ।''

---

1. रूद्रगन्थिं यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः । (यो. प्र. 4/76)
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ।।

2. एकीभूतं यदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् । (यो. प्र. 4/77)
सृष्टिसंहारकर्त्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ।।

इससे नादानुरक्त चित्त अन्य विषयों में नहीं जाता ।[1]

नादयोग की उपयोगिता :- श्रीस्वात्माराम योगी 'योगप्रदीपिका' में नादयोग की उपयोगिता पर प्रकार डालते हुए लिखते हैं कि शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पञ्च विषयरूपी उद्यान में स्वच्छन्द विचरण करने वाले चित्तरूपी उन्मत्त हाथी को अपने वश में करने के लिए नादरूपी तीक्ष्ण अंकुश आवश्यक है ।[2] जिस प्रकार से सपेरे की बीन ध्वनि को सुनकर सर्प शीघ्र ही धावन क्रिया का परित्याग करके स्थिर हो जाता है । उसी प्रकार अन्तःकरण चित्तरूपी सर्प (भुजङ्ग) नाद श्रवण द्वारा अन्य रूप स्पर्श, गन्ध, रस इन विषयों की ओर दौड़ना त्याग कर समाहित हो जाता है ।[3]

नाद श्रवण के निरन्तर अभ्यास से निश्चित् ही चित्त और प्राण समाहित हो जाते हैं । चित्त और प्राण के अवस्थित होने पर चित्त में होने वाले काम - क्रोध, लोभ, मोह आदि मानस विकार रूपी पापचक्र क्षीण हो जाता है । तथा आत्मदर्शन की योग्यता आ जाती है । जिस प्रकार से औषधि प्रयोग विशेष द्वारा आबद्ध पारा चाञ्चल्य हीन होकर आकाश में गमनागमन करने योग्य हो जाता है, उसी प्रकार नाद रूप गन्धक भस्म द्वारा विक्षिप्त चित्त समाहित हो कर निराकार सर्वव्यापक परमात्मा में अवस्थित होने योग्य हो जाता है ।[4]

---

1) " नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि काङ्क्षते " ।। (यो. प्र. 4/90)

2) मनो मत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः ।। (यो. प्र. 4/91)

3) नादश्रवणतः क्षिप्रमन्तरङ्गमः ।
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ।। (यो. प्र. 4/97)

4) बद्धं विमुक्तचाञ्चल्यं नादगन्धकजारणात् ।
मनः पारदमाप्नोति निरालम्बाख्यखेऽटनम् ।। (यो. प्र. 4/96)

2. **त्राटक योग** :- आचार्य अमृत्वाग्भव जी के अनुसार त्राटक योग को निर्वात स्थान पर निश्चितत्या चमकती हुई दीपक की ज्योति पर अथवा दीवार पर अङ्कित किए हुए बिन्दु पर दृष्टि जमा कर किया जाता है ऐसा करके योगी महानुभाव अपने आपको शक्तिधन चिद्रूपदा में पहचान लेते हैं ।[1] इस योग में किसी सूक्ष्म पदार्थ को तब तक देखते रहना चाहिए, जब तक आँखों में आँसु न आ जाए । अश्रुपात होने पर ही देखना बन्द करना चाहिए ।[2]

त्राटक कर्म के लाभ :- श्रीस्वात्माराम योगी ने योगप्रदीपिका में त्राटक कर्म के लाभ बताते हुए कहा है कि त्राटक करने से नेत्रों के अनेक रोगों का तथा तन्द्रा, आलस्य आदि दोषों का विनाश हो जाता है । इस त्राटक कर्म को अजितेन्द्रिय, सदाचारहीन एवं अधर्मात्मा लोगों से सदा स्वर्ण पेटिका के समान बचाकर रखना चाहिए ।[3]

---

1) दीपज्योतिषि निर्वाते बिन्दौ वा भित्तिलाञ्छिते ।
केचित् त्राटकयोगेन शाकं प्रत्यभिजानते ।। (सि. रह. आह. 6/3)

2) निरीक्षेन्निरचलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ।। (यो. प्र. 2/31)

3) मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ।। (यो. प्र 2/32)

3. लययोग :- श्रीमदामृतवाग्भवाचार्य जी के अनुसार लययोग के द्वारा योगी महानुभाव प्रपञ्च को अपने में विलीन करके तथा पुनः स्वयमपि परम्परा से कारण तत्त्वों से उनके भी कारण तत्त्वों में विलीन होकर परमशिव अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।[1] क्योंकि अन्ततोगत्वा सारी की सारी कारण परम्परा का मूल कारण परमेश्वर है, जिंसका वास्तविक स्वरूप परिपूर्ण शक्ति ही है । शिवसूत्र में भी ऐसा ही कहा गया है ।[2] राजानक क्षेमराज भी लययोग के सम्बन्ध में ऐसा ह िमत अभिव्यक्त करते हैं ।[3] विज्ञानभैरभ में इसके लिए भुवनाध्वा एवं कालाध्वा शब्द प्रयुक्त किये गए हैं । भुवनाध्वा के अनुसार साधक को मन के द्वारा समस्त स्थूल प्रपञ्च को सूक्ष्म में और सूक्ष्म को परमकारण में तब तक लय चिन्तन करना चाहिए, जब तक की मन का भी उसमें लय न हो जाए ।[4] कालाध्वा योग के अनुसार साधक को अपने पॉव के दायें अंगुष्ठ से कालाग्निरुद्र का उदय चिन्तन करते हुए क्रमशः सम्पूर्ण शरीर का दहन अनुभव करना होता है, जब तक के अन्त में शानताभास की अनुभूति न हो जाए । इसको दाहभावना भी कहते हैं ।[5]

---

1) आपाद्य पञ्चतां केचित् प्रपञ्चं लययोगतः ।
कारणात् कारणे लीनाः शाकमेवाश्रयन्ति नः ॥ (सि. रह. आह. 6/6)
(शि. सू. 3/4)
2) शरीरे संहारः कलानाम्
3) महाभूततात्मकं, पुर्यष्टकरूपं , समनान्तं यत् स्थूलं , सूक्ष्मं, परं
शरीर, यत्रं याः पृथिव्यादिशिवान्ततत्त्वरूपाः कला भागाः
तासां संहारः , स्वकारणे लयभावनया दाहादिचिन्तनयुक्त्या वा ध्यातव्यः (शि.सू.वि. पृ-135)
4) भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत्क्रमशोऽखिलम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः ॥ (शि. सू. 3/56)
5) कालाग्निन कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम ।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासः प्रजायते ॥ (वि. भै. श्लो.-52)

4. खेचरी मुद्रा :– शब्दिक रूप से खेचरी का तात्पर्य आकाश में विचरण करने वाली होता है और शरीर के अंगों के विशेष प्रकार के विन्यास को मुद्रा कहते हैं । परन्तु अध्यात्मपरक शास्त्रों में 'ख ' से तात्पर्य चेतना से लिया गया है । अतेव खेचर से तात्पर्य 'शिव ' लिया गया है और इससे सम्बन्धित मुद्रा को खेचरी मुद्रा कहा जाता है । जिसके अनुसरण से शैवी चेतन्यता की अनुभूति अनयास हो जाती है । मुद्रा शब्द शैवागमानुसार अनेक अर्थों का प्रतीक है –

1. मुदम् (हर्षम्) राति (ददाति) अर्थात् जो आनन्द प्रदान करती है ।

2. मुम् (बन्धनम्) द्रावयति निवारयति अर्थात् जो बन्धन को दूर कर देती है ।

3. मुद्रयति इति मुद्रा अर्थात् जो जगत की सृष्टि, स्थिति, संहार को तुर्या में मुद्रित करती है , उसे मुद्रा कहते हैं । अभिवन गुप्त ने तन्त्रालोक में कहा है कि इसको मुद्रा इसलिए कहते हैं क्योंकि यह शरीर की सभी जाग्रत् आदि अवस्थाओं में आत्मस्वरूप को अनुभव करने के योग्य बनाती है । [1]खेचरी मुद्रा को व्योमचक्र भी कहते हैं ।

---

1) मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मना ।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ।। (तं. आ. आह. – 32)

भगवान शिव सिद्धवसुगुप्त को उपदेश देते हुए बतलाते हैं कि शुद्धविद्या के उदय होने पर स्वाभाविक खेचरी शिव अवस्था की प्राप्ति हो जाती है ।[1] कुलचूड़ामणि में कहा गया है कि परमसत्ता का एक ही सृष्टिमय बीज और मुद्राओं में एक ही खेचरी मुद्रा है इन दोनों की जिनको अनुभूति हो जाती है, तो वह अतिशान्त पद को प्राप्त हो जाता है ।[2] स्पन्दशास्त्र में मन्त्रवीर्य के स्वरूप को निरूपित करते हुए मुद्रावीर्य को संग्रहित किया गया है , जिसमें बताया गया है कि जब क्षोभ नष्ट (प्रलीन) हो जाता है, तब परमपद की प्राप्ति हो जाती है ।[3]

खेचरी मुद्रा की विधि :- श्रीमदअमृतवाग्भवाचार्य के अनुसार इस अद्वितीय मुद्रा को करने के लिए ऊपर की ओर सञ्चार करने वाली अपनी जिह्वा से अपने मस्तिष्क की ओर जाने वाले छिद्र को भरकर चन्द्रमण्डल से टपकने वाले अमृत का पान किया जाता है ।[4]

---

1) ' विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था ' (शि. सू. 2/5)

2) त्रयुक्तं कुलचुड़ामणौ –
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
द्वावेतो यस्य जायेते सोऽतिशान्तपदे स्थित : ।। (शि. सू. पृ.– 99)

3) यदा क्षोमः प्रतीयेत तदा स्यात्परमं परम् ।
इत्यर्धेन अन्यपरेणापि चूड़ामण्युक्तं खेचरीस्वरूपं भङ्ग्या सूचितम् ।। (स्प. का. 1/9)

4) केचित् कपालक कुहरं खेचर्यापूर्य जिह्वया ।
सोमपीयूषपानेन यजन्ते शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 6/5)

खेचरी मुद्रा के लाभ :-

खेचरी मुद्रा को करते हुए जो योगी जिह्वा को लौटाकर कपाल के मध्य छिद्र में लगाकर अर्धक्षण भी स्थित रहता है, वह सर्प वृश्चिक आदि के विषों से तथा शीघ्र जरा और मृत्यु के आक्रमण से सुरक्षित रहता है ।[1] खेचरी मुद्रा का अभ्यास करनेवाले योगी को रोग, मृत्यु, निद्रा, आलस्य, भूख, प्यास, मुर्च्छा शीघ्र नहीं सताते हैं । अर्थात् इसके अभ्यास से तितिक्षा बढ़ती है । रोगों के आक्रमण से मुक्त होकर कर्मबन्धन का क्षय तथा दीर्घायुष्य लाभ होता है ।[2] जो योगी इस खेचरी मुद्रा से अपने वीर्य की सुरक्षा करके अपने शरीर को पुष्ट बना लेता है, वह सर्पादि विषैले जन्तुओं के काटने पर भी विषाक्रान्त नहीं होता है ।[3] जिस प्रकार से अग्नि काष्ठों को तथा दीपक तेल और बत्ती को नहीं त्यागते, ठीक उसी प्रकार से ब्रह्मचर्ययुक्त शरीर को आत्मा नहीं त्यागती ।[4] अथर्ववेद में भी कहा गया है कि ब्रह्मचर्य तप से ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है ।[5]

---

1) रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ।। (यो. प्र. 3/38)

2) न रोगो मरणं तन्द्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।। (यो. प्र. – 3/45)

3) नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पत्ति ।। (यो. प्र. – 3/45)

4) इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।। (यो.प्र. 3/46)

5) ''ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ''। (अथर्व 11/5/19)

खेचरी मुद्रा में जिह्वा को तालुभाग में लगाने पर तथा मन को भृकुटी में स्थिर करने पर प्राणवायु सुषुम्ना मार्ग से चलकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने लगती है । वायु सुषुम्ना मार्ग से बहने पर वीर्य भी मस्तिक की ओर गति करने लगता है । इस स्थिति में ऊपर मस्तिक में स्थित चन्द्रवत् शीतल वार्य के प्रभाव से जो ब्रह्म को प्राप्त करने में आनन्द प्राप्त होगा, उस आनन्द को अमरवारूणी आनन्द कहेंगे । [1] जब कपालछिद्र जिह्वा द्वारा, लवण, कटु, अम्ल, दुग्ध, मधु, धृत के तुल्य रसों का आस्वादन होने लगता है, तब अनेक रोगों का क्षय, वृद्धत्व नाश, शास्त्र प्रहारकाल में रक्षा, अणिमा आदि अष्ट ऐश्वर्य लाभ तथा सिद्धों का साक्षात्कार इत्यादि लाभ होने लगते हैं ।[2] जिस प्रकार से सृष्टिरूपी कार्य का कारण मूल प्रकृति, तथा देवों में परमात्मा देव है एवं प्रत्याहारात्मक अवस्ताओं में मनोन्मनी अवस्था श्रेष्ठ है उसी प्रकार सम्पूर्ण मुद्राओं में खेचरी मुद्रा उत्तम है ।[3]

---

1) जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् यः सारः स स्यादमरवारूणो ।। (यो. प्र. 3/49)

2) चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पन्दिनी,
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं,
तस्य स्यादमरत्वभष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।। (यो. प्र. 3/50)

3) एकं सृष्मियं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ।। (यो. प्र. 3/54)

5. बज्रोली मुद्रा :- श्रीमद् अमृतवाग्भव आचार्य जी ने श्रीसिद्धमहारहस्यम् में बज्रोली क्रिया पर अधिक प्रकाश नहीं डाला है । उनके अनुसार कोई विरले ही साधक स्त्री के साथ मिथुन बनकर बज्रोली क्रिया के अभ्यास के द्वारा अपने शरीर को वज्रसार जैसा सुदृढ़ बनाकर ' सकने ' (परमशिव) का भजन करते हैं ।[1] अतः बज्रोली क्रिया का मूल प्रयोजन अपनी शक्तिघनता का साक्षात्कार करना ही है ।

योगप्रदीपिका में श्रीस्वात्माराम योगी ने बज्रोली क्रिया के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि योग और भोग ये दोनों शब्द सर्वथा परस्पर विरोधार्थक हैं । ''ब्रह्मचर्य की रक्षा योग की सिद्धि के बिना तीनों कालों में असम्भव है '' पतञ्जलि आदि महर्षियों ने जो योग में यम और नियम को योग की आधार शिला माना है तथा वही मार्ग श्रेयस्कर है । श्रीस्वात्माराम योगी के अनुसार वीर्य की सुरक्षा से जीवन तथा वीर्य के विनाश से मृत्यु होती है, अतः योगी को मृत्युञ्जय

1) योषिता मिथुनीभूता विरलाः साधकाः पुनः ।
वज्रोल्या वज्रसाराङ्गा भजन्ते शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 6/7)

के उत्कृष्ट साधन वीर्य की सुरक्षा करनी चाहिए । [1] वीर्य सुरक्षा से योगी का शरीर सुगन्धमय हो जाता है । जब तक ब्रह्मचर्य के सुपरिपालन से शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है, तब तक असामयिक मृत्यु नहीं होती है तथा दीर्घायुष्य प्राप्त होता है । [2] अतः योगाभ्यासी को महान् प्रयत्न से मन तथा वीर्य की सुरक्षा करनी चाहिये । क्योंकि मनुष्यों के चित्त की पवित्रता से वीर्य रक्षा तथा वीर्य की रक्षा से चित्त स्वच्छ बनता है । [3]

---

1) एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् । (यो. प्र. 3/88)
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।।

2) सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् । (यो. प्र. 3/89)
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे तावत् कालभयं कुतः ।। (यो. प्र. 3/90)

3) चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।

5. षण्मुखी मुद्रा :- आचार्य के अनुसार योग की इस मुद्रा को पद्मासन लगाकर तथा प्राणों को रोककर किया जाता है ।[1] अर्थात् दोनों हाथों के अंगुठों कनिष्टिकाओं ओर अनामिकाओं के द्वारा क्रम से कर्णछिद्रों को और नेत्रों को दबाए रखते हुए शेष दो – दो अंगुलियों को माथे पर जमाकर रखकर षण्मुखी मुद्रा की जाती है ।

सैद्धदर्शन में माया दशा को भव, विद्या दशा को अभव और शक्ति दशा को अतिभव कहा जाता है । साधक द्वारा अपने आप का परम – आनन्दमय चमत्कारात्मक विमर्शन ही उसका अभिनन्दन होता है । इस प्रकार साधक में कृतकृत्यता रूपी अपूर्व सन्तोष अभिष्यक्त होता रहता है । अतः साधक पद्मासन में ठहरकर, शरीर के सभी अंगों को समभाव में सीधे ठहराकर, एक दूसरे के ऊपर रखे हुए दोनों हाथों को (हथेलिया ऊपर किए हुए) गोद में ठहराकर [2] निर्वात स्थान पर जलते हुए दीपज्योति की तरह निश्चल बैठा हुआ, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, इन सभी का न ही उपादान और न ही परित्याग करता हुआ तथा स्थिर एवं निश्चल ठहरा हुआ नित्य आत्मरूप परमशिव का लगातार साक्षातकार करता है ।[3]

---

1) पद्मासनमधिष्ठाय मुद्रामालम्ब्य षण्मुखीम् ।
केचित् प्राणनिरोधेन भजन्ते शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 5/4)

2) पद्मासनमधिष्ठाय समसर्वाङ्गविग्रहम् ।
परस्परोपरिधृतो करौ कृत्वाङ्गावुभौ ।। (सि. रह. आह. 6/21)

3) निवातदीपवत्तिष्ठन् क्रियाज्ञानैषणाः समाः ।
अमृह णन्नत्यजन् नित्यं स्वात्मानं शम्भुमीक्षते ।। (सि. रह. आह. 6/22)

क्योंकि असीम सामर्थ्य युक्त और असीम परमशिव रूपी सकना ही माया दशा और विद्यादशा में अपने ही प्रकाश से शक्ति दशा का विमर्शन करके साधकों को आनन्दित करता है ।[1]

इस प्रकार जब इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों ही शान्त हो जाती है और अन्तःकरण निश्चल ठहरे रहते हैं तो सारे संकल्प – विकल्पों के शान्त हो जाने पर आत्मदेव अपने ही चित्प्रकाश से स्वयमेव चमकता हुआ अपने आप का अपने आप ही साक्षात्कार करता रहता है । इस अवस्था में किसी उपाय के अभ्यास को किए बिना ही स्वयमेव आत्मसाक्षात्कार हो जाता है ।

निष्कर्षतः आचार्य के अनुसार सैद्ध ही सभी योगों में अत्कृष्ट योग तथा सभी राजयोगों में महाराजाधिराज योग है । इस प्रकार सैद्ध योग ही स्वात्मरूप ' सकने ' की प्रत्यभिज्ञा को प्राप्त कराने में महाशक्ति स्वरूप है । इस योग के अभ्यास से साधक अवश्य ही समस्त दिव्य शक्तियों के एकधन स्वरूप अपने वास्तविक आप (स्वरूप) को पहचान कर पूरी तरह से कृतकृत्य हो जाता है ।[2]

---

1) भवाभवे चातिभवं विमृश्य स्वप्रकाशतः ।
स्वात्मानमभिनन्दामि महाशाको महाबलः ।। (सि. रह. आह. 6/20)

2) महाराजाधिराजोऽयं योगानामुत्तमोत्तम : ।
स्वशाकप्रत्यभिज्ञाने महाशाको न संशयः ।। (सि. रह. आह. 6/33)

उपसंहार :-

श्रीसिद्धमहारहस्यम् और वर्तमान युग में उसकी प्रासंगिकता

श्रीसिद्धमहारहस्यम् की वर्तमान युगमें बहुत अधिक प्रासंगिता है । विशेषकर अमृतवाग्भवाचार्य ने श्रीसिद्धमहारहस्यम् में जो दार्शनिक दृष्टिकोण व्यक्त किया है, उससे इसकी प्रासंगिता और भी बढ़ जाती है । आचार्य का परमसत्ता विषयक दृष्टिकोण तो श्रेयस्कर है । आचार्य के अनुसार परमसत्ता अर्थात् परमशिव ही पांचों कोशों के भीतर तथा बाहर प्रकाशमान् होता है । उस परमशिव रूपी शक्ति को हीं कुछ महानुभाव बृहत् अर्थात् सर्वव्यापक होने के कारण ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते है ।[1] शिवतत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक के छत्तीस तत्त्वों के अधिष्ठातृदेवताओं का जो यजन किया जाता है , वास्तव में वह यजन उस परमशिव अर्थात् परमसत्ता का हीं होता है ।[2] अर्थात् सभी तत्त्व और सभी तत्त्वेश्वर देवता परमब्रह्म की शक्ति के ही भिन्न–भिन्न रूप हैं ।

---

1) पञ्चानामपि कोशानां काशतेऽन्तर्बहिश्च यः ।
शाक्तं ब्रह्मेति तं केचिद् बृहत्त्वात् समुपासते ।। (सि. हर. आह. 6/12)

2) शिवादिक्षितिपर्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वदेवतः ।
यजन्ते पूर्णयोगेन मुनयः शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 5/21)

आचार्य के अनुसार बारह आदित्य, ग्यारह रूद्र और आठ वसु भी परमशिव रूपी सकने की महिमा से ही अपने – अपने अधिकारों को निभाते हैं । अर्थात अपने अधिकारों को निभाने में परमशिव का आश्रय लेते हैं ।[1] भिन्न – भिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार एक ही परमशिव (परमसत्ता) को ब्रह्म, सोम, भगवान् , कर्त्ता , पुरूष, परासंवित, स्वभाव बुद्ध और गुरू इत्यादि नामों से स्मरण किया जा सकता है । क्योंकि वह सभी नामों और रूपों तथा इनकी प्रवृत्तियों के निमित्तों, गुणों और क्रियाओं का एकरस निदानभूत है । कहने का तात्पर्य यह है कि सभी का मूल कारण वही है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का आविर्भाव उसी से होता है ।[2] परमशिव ही प्रत्येक पद में अनेकों बार अपने प्रकाश का विमर्शन करता हुआ अपनी लीला से अनन्त नामों और रूपों को धारण करता है ।[3]

---

1) आदित्य द्वादश तथा रूद्रा एकादशापि च ।
वसवोऽष्टावपि सदा शाकमेवाश्रयन्त्यहो ।। (सि. रह. आह. 5/20)

2) सोमो वा पुरूषोऽपि वाऽथ – भगवान् कर्त्ताऽपि वा ।
बुद्धो वाऽथ जिनोऽपि वा गुरूरथो हानिर्न काप्यत्र में
तत्तद्दर्शनसिद्ध भूरभिमताऽऽनन्दात्मिका पातु माम् ।। (आ. वि. 2/24)

3) पदे पदे शाक एव काशं स्वं विमृशन् मुहुः ।
अनन्तनामरूपाणि दधामि निजलीलया ।। (सि. रह. आह. 3/18)

तीव्रव्रतधारी ऋषि और मुनि जिस देवताओं के महादेव का यमों, नियमों, आसनों, प्राणायामों, प्रत्याहारों और धारणाओं से तथा ध्यायन और समाधि के द्वारा यजन करते हैं वह परमशिव अर्थात् परमसत्ता ही है ।[1] वेदों में भगवान् शिव को शंकर, शम्भु, भयोभव, पशुपति, शिति, सोम, रूद्र एवं नीलग्रीव आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया जाता है । शिव अनुभवकर्ता भी है और स्वयं अनुभूत पदार्थ भी है, क्योकि वह अनुभव करने वाला आत्मा तथा अनुभूत होने वाला जगत् दोनों हैं ।

आचार्य के अनुसार एकमात्र ' परमशिव ' या ' परमसत्ता ' या 'सकना ' ही जाग्रत् अवस्था में स्वरूप की विस्मृति के रूप में, स्वप्न में उस की स्मृति के रूप में, सुषुप्ति दशा में उसकी अनुभूति के रूप में और तुर्या दशा में उसकी भूति अर्थात् विद्यमानता के रूप में विराजमान होता रहता है ।[2] भगवान् परमशिव ही अपनी स्वाभाविक कला से समस्त भाव – अभावरूप विश्व के उल्लासित करते हैं । वे ही प्रत्येक बिन्दु के भीतर विद्यमान हैं, स्वप्रकाश हैं । वे परमशिव ही विसर्ग में अर्थात् विश्वसृष्टि मे तेज रूप में व्याप्त हैं । परमशिव ही सृष्टि स्थिति संहार आदि पञ्च कृत्यों को करते हुए

---

1) यमैश्च नियमैर्नित्यं चासनैः प्राणसंयमैः ।
प्रत्याहारैर्धरणभिर्ध्यानेन च समाधिना ।।
यस्य लाभाय मुनय ऋषयः संशितव्रताः ।
प्रत्यन्ते महान् देवः स्वभावः शाक एव सः ।। (सि. रह. आह. 5/15,16)

2) विस्मृत्या जाग्रति स्वप्ने स्मृत्या सुप्तेऽनुभूतितः ।
तुर्यायां भूतितश्चैकः शाक एव विराजते ।। (सि. रह. आह. 5/14)

सदैव अपने प्रकाश के द्वारा सर्वोत्कर्ष से चमकता रहता है ।[1] शिव अनिर्वचनीय है तथा सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों से परे निर्गुण निराकार है । परमशिव को बुद्धि के द्वारा नहीं जाना जा सकता है , क्योंकि बुद्धि की सीमा है, किन्तु शिव असीम है । परमशिव शाश्वत् है । यह सर्वदा, सर्वतः और सर्वथा असीम है । यह जो कुछ भी आभासित करता है, चाहे प्रमाता के रूप में, चाहे प्रमेय के रूप में, चाहे प्रमाण के रूप में , वह सारे का सारा उस शुद्ध संवित् के भीतर सदैव विद्यमान रहता है ।[2]

1) भावाभावोल्लासिकलो विन्दुगो निजमन्दिरे ।
दीव्यामि स्वावबोधोऽहं महो वैसर्गिकं सदा । (सि. रह. आह. 3/3)

2) अमृतं सर्वजीवातुरतीतस्तुर्यतां मुहुः ।
गाहते त्रिपुटीं स्वस्मिन् शाक उल्लासयन् शिवः ।। (सि. रह. आह. 3/22)

आचार्य ने आत्मा, परमात्मा और मोक्ष के सम्बन्ध में भी अपने विचार श्रीसिद्धमहारहस्यम् में अभिव्यक्त किये हैं । उनके अनुसार जगत् से पलायन करने की आवश्यकता नहीं है अथवा इसको मिथ्या मात्र समझ कर इससे विमुख होने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि सांसारिक समस्त कार्यो कलापों को करते हुए इसमें उस परमसत्ता की सतत् अनुभुति करनी चाहिए, जिससे जगदानन्द की प्राप्ति होती है । सभी प्राणी मुक्ति चाहते हैं । कोई भी ऐसा जीव नहीं है जो दुःख अथवा बन्धन को चाहता हो । आचार्य दुःख अथवा बन्धन का कारण अज्ञान मानते हैं शिव के लिए बन्धन लीला है एवं पुनः बन्धन से मुक्ति पाना भी उसकी लीला नहीं है । इसमें मुक्ति पाने के लिए जीव को कठिन प्रयास करना पड़ता है । इस बन्धन से मुक्ति उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् ही हो सकती है । आचार्य परमेश्वर की प्राप्ति में ही मोक्ष को मानते हैं । मोक्ष चेतना की शुद्धावस्था है । यह पूर्ण अहम् अथवा पूर्णाहन्ता की स्थिति है । मोक्ष शिवावस्था है । अपने स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है । अर्थात् जीव तभी मोक्ष को प्राप्त कर सकता है जब वह अपने को परमशिव समझे ।

आचार्य के परमसत्ता या परमशिव विषयक दृष्टिकोण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे परमसत्ता या परमशिव को लेकर विभिन्न जातियों, मतों, सम्प्रदायों, धर्मो एवं दार्शनिकों के बीच में होने वाले मतभेदों से भलि भॉंति परिचित थे । उन्हें इस बात का अच्छी प्रकार से ज्ञान था कि प्रायः इसी तत्त्व के कारण ही विभिन्न जातियों या सम्प्रदायों के मध्य आपसी तालमेल नहीं बन पाता है ।

क्योंकि सभी धर्मों के लोग अपने – अपने धर्म तथा आराध्य देवता को अन्य धर्मों के आराध्य देवता की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं एवं आपस में लड़ते झगड़ते रहते हैं । इस कारण विश्व या देश में राष्ट्रीय एकता को स्थापित कर पाना कठिन हो जाता है । अतः आचार्य इस कठिन समस्या से जनता को उभारना चाहते थे, तांकि वह अज्ञान अथवा आपसी विरोध के कारण पत्तन को न प्राप्त हो जाए ।

आचार्य का कथन है कि जैसे प्रेमवश अपने पिता को कोई पिता, फादर, पापा, डैडी, अब्बू अथवा बापू इत्यादि नामों से पुकारता है और इन सम्बोधनों से पिता के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता है । इसी प्रकार परमसत्ता एक हीं है उसे किसी भी अपने रूचिकर नाम से अथवा रूप से जाना जा सकता है । अतः परमसत्ता के नाम उसके रूप एवं उसकी श्रेष्ठता को लेकर किये जाने वाले लड़ाई झगड़ों का क्या प्रयोजन ? परमसत्ता सर्वव्यापी है, वह सर्वशक्तिमान् है एवं अगम तथा अगोचर है । वह सबकी आत्मा में विराजमान है । सृष्टि का कण – कण उसी की छाया है । इनकी इस शिक्षा का अनुसरण करके विभिन्न मतों एवं सम्प्रदायों में होने वाले लड़ाई झगड़ो को मिटाया जा सकता है तथा विश्व एवं समाज में शान्ति स्थापित की जा सकती है ।

आचार्य के कथन अनुसार जिस प्रकार वन में व्याप्त आकाश को वनाकाश, घट में व्याप्त आकाश को घटाकाश तथा कमरे में व्याप्त आकाश को कमराकाश कहते हैं, किन्तु वन, घट आदि सभी में व्याप्त आकाश अलग – अलग न होकर एक ही है । केवल उसके नामों में अन्तर है । ठीक

उसी प्रकार चाहे हम ईश्वर को राम, रहीम, कर्ता, अथवा अल्लाह कहें, गाड (God) कहें, वाहेगुरू कहें या भगवान् कहें, वह एक ही है । हमें उसके नामों या रूपों को लेकर भेदभाव नहीं करना चाहिए । उसी ईश्वर ने सब जीवों की सृष्टि की है तथा अन्तोगत्वा सब उसी में समा जाते हैं । जब एक ही ईश्वर ने सब जीवों को उत्पन्न किया है तथा उसी में सब को विलीन हो जाना है, तो फिर कुछ श्वासों के इस जीवन में तेरा – मेरा, अपना – पराया , छोटा – बड़ा, ऐसा भेद–भाव किस लिये ? आचार्य के अनुसार जब हम यह जान जाएंगे कि जो आत्मा हमारे भीतर है, वहीं आत्मा दूसरे मनुष्यों के भीतर भी है, जिस प्रकार चोट लगने पर हमें पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा दूसरे मनुष्यों तथा जानवरों को भी होती है, तो हम दूसरों से दुष्ट व्यवहार करना छोड़ देंगे तथा उन्हें अपना ही प्रतिबिम्ब मानकर उनसे सभ्य व्यवहार करेंगे । ऐसा करने पर विश्व में से ईर्ष्या द्वेष, भेद–भाव तथा ऊँच नीच जैसी कई बुराइयाँ अपने आप ही समाप्त हो जाएगी तथा विश्व उन्नति की ओर बढ़ने लगेगा ।

आचार्य के अनुसार मनुष्य में उत्पन्न होने वाली सभी बुराईयों का मूल कारण अज्ञान है । इसी अज्ञान के कारण ही, मनुष्य परमसत्ता को पहचान नहीं पाता है । वह सभी जीवों को अपने से भिन्न मानता है । अज्ञान के वशीभूत होकर ही वह यह नहीं समझ पाता है कि परमसत्ता एक है तथा वही सभी जीवों के भीतर आत्मा के रूप में विद्यमान है । मनुष्य के यही अल्पज्ञता मोक्ष प्राप्ति में उसके लिए बाधा बन जाती है । जिस प्रकार कोई शेर का छोटा बच्चा भूल से भेड़ों के झुण्ड में चला

जाए तथा उन्हीं भेड़ों के झुण्ड में पलने बढ़ने लगे तो वह भी अपने को भेड़ ही समझेगा तथा भेड़ों की भॉति कुत्तों से डरने लगेगा । किन्तु जब शेरनी उसे इस बात का ज्ञान दिलाए कि वह भेड़ नहीं शेर है, तो उसकी अज्ञानता नष्ट हो जाएगी तथा वह कुत्तों से कभी नहीं डरेगा । इस प्रकार जब मनुष्य अपने को शिव मानने लगेगा तथा अपना ही अंश अन्य मनुष्यों में देखेगा, तो उसका अज्ञान नष्ट हो जाएगा । वह सभी जीवों से प्रेम करने लगेगा । आचार्य सभी जीवों में प्रेम की भावना जागृत करना चाहते हैं तथा उन्हें मोक्ष के रास्ते पर उन्नमुख करना चाहते हैं । आचार्य के अनुसार प्रत्येक जीव मोक्ष चाहता है । मोक्ष प्राप्ति के लिए ही वह ना ना प्रकार के यज्ञों, उपवासों, योगासनों तथा मुद्राओं आदि को करता है । वर्तनाम युग में योगासनों को विशेष महत्व दिया जाता है । भिन्न - भिन्न प्रकार के रोग तथा मानसिक अशॉति को भी दूर करता है तथा मन को मोक्ष के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है । योगासन तथा योग की विभिन्न मुद्राएँ मोक्ष प्राप्ति के लिए वर्तमान युग से सबसे उपयुक्त मानी गई हैं ।

आचार्य ने श्रीसिद्धमहारहस्यम् में सैद्धयोग या योग के विषय में जो अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं, वह भी वर्तमान युग में इस ग्रन्थ की प्रासंगिकता को और भी बढ़ाते हैं । आचार्य द्वारा इस गन्थ में कहे गये योग के आसनों तथा मुद्राओं का अनुसरन करके जीव मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है । इन योगासन एवं मुद्राओं का अभ्यास करके एक ओर तो वह अपने शरीर को सब प्रकार के दु:खों कलेशों से मुक्त कर सकता है, स्वस्थ, सुन्दर और रूपवान बना सकता है तथा दूसरी ओर आत्म साक्षात्कार से इस लोक और परलोक को सॅवार सकता है ।

ग्रन्थ सूची

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक	प्रकाशक	संस्करण/वर्ष
1.	अथर्ववेद	श्री सायणाचार्य	विशवेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर	प्र.सं.2019वि.
2.	अष्टाध्यायी	पाणिनी	मोतीलाल वनारसीदास	1971
3.	आत्मविलास	अमृतवाग्भवाचार्य	एस.एन.मंगोत्रा, प्रिंटींग प्रैस, जम्मू	दि.सं.2039 वि.
4.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका	उत्पलदेव	काश्मीर संस्कृत सीरीज, श्रीनगर	प्र.सं. 1938
5.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी	अभिनवगुप्त	–वहीं–	प्र.सं. 1918
6.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी	–वहीं–	काश्मीर ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं. 1938
7.	तन्त्रसार	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत, ग्रन्थावली,श्रीनगर	प्र.सं. 1928
8.	तन्त्रालोक	–वहीं–	मोतीलाल बनारदीदास वाराणसी	प्र.सं. 1928
9.	देशिकदर्शनम्	अमृतवाग्भवाचार्य	काश्मीर संस्कृत धार्मिक संस्थान	प्र.सं. 1983
10.	नागानन्द नाटक	श्रीहर्ष	मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी	प्र.सं. 1928
11.	परमशिवस्तोत्रम्	अमृतवाग्भवाचार्य	श्री पीठ, सैद्ध दर्शन शोध संस्थान, जम्मू	प्र.सं. 1984
12.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	क्षेमराज	चोखम्बा विद्याभवन वाराणसी	चतुर्थ सं. 1982

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक	प्रकाशक	संस्करण/वर्ष
13.	भगवद्गीता	महर्षि वेदव्यास	गीत प्रैस,गोरखपुर	तृ.सं. 1902
14.	भास्करी	के.सी.पाण्डेय	सरस्वती भवन टेक्स्ट्स,लखनऊ	प्र.सं. 1938 द्वि.सं. 1954
15.	मृत्युञ्जयतन्त्र	आगम	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1963
16.	महार्थमञ्जरी	महेश्वरानन्द	–वही–	प्र.सं. 1918
17.	महानुभवशक्तितस्तवः	अमृतवाग्भवाचार्य	श्री पीठ सैद दर्शन शोध संस्थान जम्मू	प्र.सं. 1984
18.	मालिनीविजयतन्त्र	आगम	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं. 1922
19.	योगप्रदीपिका	अमृतानन्द	चोखम्बा प्रकाशन वाराणसी	1963
20.	रघुवंश	कालिदास	पण्डित पुस्तकालय राजादरवाजा,बनारस	
21.	राजतरङ्गिणी	कल्हण	विजय प्रकाश वेरी हिन्दी प्रकाशन संस्थान वाराणसी	प्र.सं. 1979
22.	विज्ञानभैरव	शिवोपाध्याय	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली	1918
23.	शिवदृष्टि	सोमानन्द	–वही–	प्र.सं.1934
24.	शिवस्तोत्रावली	उत्पलदेव	मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी	दि. सं. 1983

25.	शिवसूत्र	वसुगुप्त	–वही–	प्र.सं. 1928
26.	षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह	मुकुन्दराम	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं. 1933
27.	सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली	1974
28.	सञ्जीवनी दर्शनम्	अमृतवाग्भवाचार्य	राज पं. श्रीगोविन्दमिश्र चौबुर्जा,भरतपुर राजस्थान	प्र.सं.2020वि.
29.	सिद्धमहारहस्यम्	–वही–	श्री पीठ सैद्ध दर्शन शोध संस्थान जम्मू	प्र.सं.2040 वि.
30.	सौन्दर्यलहरी	शङ्कराचार्य	लोक सेवक प्रेस,मुबई	1931
31.	स्पन्दकारिका	वसुगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली,श्रीनगर	प्र.सं. 1941–1947
32.	स्वच्छन्दतन्त्र	क्षेमराज	–वही–	–वही–

अन्य सहायक ग्रन्थ सूची

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक	प्रकाशक	संस्करण/वर्ष
33.	आत्मविलास का एक अध्ययन	कुलभुषण शर्मा	अप्रकाशित	1990
34.	उत्पलदेव का काशमीर शैवदर्शन के योगदान	डा0 जगीर सिंह	अप्रकाशित	1985
35.	कश्मीर शैविज्म	जे रूद्रया	निर्देशक प्रसरङगना गंगोत्री, मैसूर	प्र.सं. 1969
36.	कश्मीर शैवदर्शन और मूल सिद्धान्त	डा0 कैलाशपति मिश्र	कांशी हिन्दु विश्वविद्यालय	प्र.सं. 1982
37.	काश्मीर शैवदर्शन	डा0 बलिज्जनाथ पण्डित	श्री रणवीर केन्द्रीय संस्थान विद्यापीठ जम्मू	प्र.सं. 1932
38.	भारतीय दर्शन	कुंवरलाल जोशी	इतिहास विद्या प्रकाशन दिल्ली	वृ.सं. 1980
39.	भारतीय दर्शन	उमेश मिश्र	–वही–	तृ.सं. 1978
40.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	–वही–	तृ. सं. 1976
41.	श्रीमद्अमृतवाग्भवचार्य (चरितामृत)	डा0 बलज्जिनाथ पण्डित	विद्वद्वरकल श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान(रजि.)दिल्ली	प्र.सं. 1989
42.	शैविज्म	जे.सी. चेटरजी	कश्मीर संस्कृत सीरीज श्रीनगर	प्र.सं. 1935